

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत अखिलभारतीय तथा विशेषत राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिवद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट०

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क १०६

विद्यावाचस्पति-श्रीमधुसूदनशर्म-प्रणीत

पथ्यास्वस्ति

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

वि० सं० २०२५

भारत राष्ट्रीय शकाब्द १८६०

प्रधान सम्पादकीय

स्वर्गीय प० मधुसूदनजी ओझा की यह अमूल्य कृति प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। जोधपुर विश्वविद्यालय में सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री सुरजनदास स्वामी के परम सौजन्य, अथक परिश्रम एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य के फलस्वरूप ही इसका अनुवाद-सहित प्रकाशन संभव हो सका है।

विद्वान् संपादक ने हिन्दी-व्याख्या के साथ-साथ बहुमूल्य पादटिप्पणियां भी दी हैं और ग्रन्थ के प्राक्कथन में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। अतः संपादक महोदय के हम अत्यंत आभारी हैं।

जैसा कि संपादक महोदय ने प्राक्कथन में सूचित किया है, प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के 'वाक्पदिका' नामक ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' का एक अवान्तर प्रकरण है। अतः यदि संपूर्ण मूल ग्रन्थ उपलब्ध होता, तो प्रस्तुत ग्रन्थ अधिक सुगम हो सकता था। फिर भी संपादक महोदय को ग्रन्थकार के शिष्य होने का गौरव प्राप्त होने से, उन्होंने विषय को जिस सुन्दरता से स्पष्ट किया है वह अन्य के लिये असम्भव था।

पुस्तक का नाम कुछ अटपटा-सा है। निःसंदेह ब्राह्मणों में (कौ० ७, ६, शं० ३, २, ३, ८, ५, १, ४) 'वाक्' को पथ्यास्वस्ति कहा गया है। परन्तु शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार वाक् किसी 'निदान' (३, २, ३, १५) के आधार पर यह नाम ग्रहण करती है। अत्र 'पथ्या' अदिति (ऐ० १, ७) और पूषा की पत्नी (गो० उ० २, ६) कही गई है तथा उसका सम्बन्ध उदोची (कौ० ७, ६, शं० ६, २, ३, १५) तथा प्राची दिशा (ऐ० १, ७) से बतलाया गया है। इसी पथ्या से अग्नि का भी सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि अग्नि को पथिकृत् (कौ० ४, ३) तथा पथ कर्ता (शं० ११, १, ५, ६) कहा गया है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि वेद में पूषा का सम्बन्ध भी पथ से है और ब्राह्मण-ग्रन्थों में पथ्या (गो० उ० २, ६) को पूषा की पत्नी बताया गया है। ऋग्वेद में स्वस्ति शब्द शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ में परमानन्द का पर्यायवाची-सा प्रयुक्त हुआ है और वहाँ 'पथ्या' शब्द के साथ भी कई बार आया है। संभवतः

इसी सदभ मे ऐतरेय-ब्राह्मण पथ्या-शब्द का प्रयोग अदिति के लिये करता है और आदित्य को उसका अनुसचरण करने वाला कहता है —

यत्पथ्या (अदिति) यजति तस्मादसौ (आदित्य) पुर उदेति पश्चाऽस्तमेति, पथ्या ह्येषोऽनुसचरति ।

(ऐ० ब्रा० १, ७)

अत इस दिशा मे गवपणा द्वारा अध्यात्म-तत्त्व पर पर्याप्त सामग्री मिल सकती है ।

यद्यपि इस भीमासा से प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इसके द्वारा वैदिक-वाङ्मय के महत्वपूर्ण स्यलो पर प्रकाश पड सकता है । अत आशा है यह भीमासा हमारी 'त्रैमासिक स्वाहा' मे यथाशीघ्र प्रारभ की जायेगी और विद्वान् सपादक के अतिरिक्त स्वर्गीय मधुसूदनजी के अन्य शिष्य भी उसमे भाग लेंगे तो उनका स्वागत किया जायेगा ।

अन्त मे विद्वान सपादक को मैं हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ । हमारे सपादन-विभाग के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने इस ग्रन्थ के लिए जो श्रम किया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

फाल्गुन शुक्ला ८, स० २०२५

जोधपुर

—फतहसिंह

अनुक्रमणिका

	मूलग्रन्थ के पृष्ठाङ्क	हिन्दी व्याख्या के पृष्ठाङ्क
१ मातृकापरिष्कार प्रथम प्रपाठ	१-२२	१-२२
वर्णसमाम्नाय	१- २	१- २
अयोगवाहा	२- २	२- ३
स्वरभक्ति	३- ४	३- ५
रङ्ग	४- ४	६- ६
अनुस्वार	५- ७	६- ६
विसर्ग	७- ७	६- ६
श्रौरस्योष्मा	७- ८	६-१०
जिह्वामूलीयोपध्मानीयो	८- ८	१०-१०
यमा	८- ६	१०-११
साम्नाशीतिशक्तिको (द्वितीय खण्ड)	१०-१६	१२-१७
अथ ब्राह्मो वर्णसमाम्नाय (तृतीय खण्ड)	१६-१८	१७-२०
अथ माहेश्वरो वर्णसमाम्नाय (चतुर्थ खण्ड)	१६-१६	२०-२०
साम्नात्रिशिक (पञ्चम खण्ड)	१६-२१	२०-२१
वर्णनिर्देशादिपरिशिष्टविचार (षष्ठ खण्ड)	२१-२२	२२-२३
२ अथ यमपरिष्कारो नाम द्वितीय प्रपाठ	२३-२७	२३-२८
३ अथ गुणपरिष्कारस्तृतीय प्रपाठ	२८-५२	२६-५०
प्रथम खण्ड	२८-३६	२६-३६
द्वितीय खण्ड (प्रक्रमस्यान्ततो वर्णभेद)	३६-४२	३६-४२
तृतीय खण्ड (मुख्यस्थानततो वर्णभेद)	४२-४५	४२-४३
चतुर्थ खण्ड (कालततो वर्णभेद)	४५-४६	४३-४४
पञ्चम खण्ड (आभ्यन्तरप्रयत्नततो वर्णभेद)	४६-४६	४५-४८
षष्ठ खण्ड (बाह्यप्रयत्नततो वर्णभेद)	४६-५०	४८-४६
सप्तम खण्ड (स ध्यक्षराणा स्थानप्रयत्ना)	५०-५२	४६-५०
४ अक्षरनिर्देशश्चतुर्थ प्रपाठ	५३-६८	५१-६८
प्रथम खण्ड	५३-५६	५१-५५

द्वितीय खण्ड	५६-६१	५५-६१
तृतीय खण्ड.	६१-६७	६१-६७
चतुर्थ खण्ड	६७-६८	६७-६८
५ सन्धिपरिष्कार पञ्चम प्रपाठ	६९-८०	६९-८६
निरूपकभेदात् सन्धिर्त्रैविध्यम्	६९-७०	६९-७०
व्यजनभेदात् सश्लेष-साप्तविध्यम्	७०-७१	७०-७२
धोर्यभेदात् सम्परिष्वङ्गद्वैविध्यम्	७१-७१	७२-७३
योगभेदात् सन्धिर्द्वैविध्यम्	७२-७२	७४-७५
आश्रयभेदात् सन्धिर्द्वैविध्यम्	७२-७३	७५-७५
बलभेदात् सन्धिर्द्वैविध्यम्	७३-७३	७५-७७
आगमो यथा	७४-७६	७७-७९
अथ लोप	७६-७७	७९-८१
अथ विपर्यय	७७-७८	८१-८३
अथ आदेश	७८-८०	८३-८५
अथ प्रकृतिभाव	८०-८०	८५-८६

प्राक्कथन

वेदविद्योद्धारक, वेदरहस्यप्रकाशक, समीक्षा-चक्रवर्ती, विद्यावाचस्पति, स्वर्गीय, पूज्य गुरुवर्य प० श्री मधुसूदनजी महाराज ने वैदिक ग्रन्थों का सम्यक् परिशीलन कर सहस्राब्दियों से विलुप्त वैदिक विज्ञान को प्रकाश में लाने के लिए यावज्जीवन भागीरथ प्रयास किया। तत्तच्छास्त्रीय परिभाषाओं के ज्ञान के बिना किसी भी शास्त्र के हृदय (मर्म) को हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता, इसलिए इन्होंने वेदों की व्याख्या आदि न लिख कर उनके रहस्यों का उद्घाटन करने वाली वैदिक परिभाषाओं के परिज्ञानार्थ परिभाषासम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया। एतदर्थं १५० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों को उन्होंने ब्रह्मविज्ञान, यज्ञविज्ञान, पुराणसमीक्षा, वेदाङ्गसमीक्षा इन चार प्रधान विभागों में विभक्त किया।

यह पुस्तक वेदाङ्गसमीक्षा-विभाग के अन्तर्गत 'वाक्पदिका' ग्रन्थ के प्रकरणभूत 'वर्णसमीक्षा' ग्रन्थ का अवान्तर प्रकरण है। इसका नाम 'पथ्यास्वस्ति' रखा गया है, क्योंकि 'वाग्वै पथ्यास्वस्ति' इस श्रुति के अनुसार वाक् को पथ्यास्वस्ति कहते हैं और स्वरव्यजनादि-विभाग से विभक्त वाक् वर्णरूपा है। इस ग्रन्थ में भी उन्हीं वर्णों की विभिन्न रूप से समीक्षा प्रस्तुत की गई है, अतः उन वर्णों की प्रतिपादक पुस्तक के लिए वाग्वाचक पथ्यास्वस्ति शब्द सर्वथा उपयुक्त है।

दूसरी बात यह है कि जिस मार्ग पर सूर्य परिभ्रमण करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है, वह मार्ग सूर्य के चौतरफ सवत्सर में भ्रमण करने वाली पृथिवी का मार्ग है। उस मार्ग को भी वेद में पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। वाक् आग्नेय अर्थात् अग्निदेवताक होने से पार्थिवी कहलाती है, क्योंकि अग्नि पृथिवी का देवता है। इसीलिये श्रुति में 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' यह कहा गया है। निरुक्तकार यास्क ने भी 'अग्निर्वा भूस्थान' इस वचन से इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी अष्टावयवा है, इस कारण पार्थिव वाक् भी अष्टावयव है। इसी आधार पर 'ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप्' तथा 'वाचमष्टापदीमहम्' इत्यादि श्रुतियों में वाक् को अष्टावयवा तथा अनुष्टुप् वतलाया गया है। क्योंकि जैसे वाक् अष्टावयवा है उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द भी अष्टाक्षरात्मक है। जिस

प्रकार आकाशस्थ क्रान्तिवृत्त पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग है, उसी प्रकार पार्थिव होने से पृथिवीरूप इस वाक् का मार्ग वर्ण या वर्णमातृका है। इन्हीं वर्णों पर वाक् परिभ्रमण करती है। अतः जिस प्रकार पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग पथ्यास्वस्ति कहलाता है, उसी प्रकार वाक् का मार्ग वर्णमातृका भी पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यवहृत किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित वर्णमातृका को पथ्यास्वस्ति शब्द से व्यपदिष्ट करने का यह भी रहस्य है।

इस प्राक्कथन में संक्षेप से इस पुस्तक में निरूपित विषयो का तथा इसकी उपयोगिता व महत्ता का प्रतिपादन करने का तुच्छ प्रयास किया जा रहा है।

इस पुस्तक में मातृकानुवाक, यमानुवाक, गुणानुवाक, अक्षरानुवाक तथा सन्ध्यनुवाक नामक पाँच खण्ड हैं। मातृकानुवाक नामक प्रथम प्रपाठ में अवान्तर ६ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में १७ वर्णों की आर्षेयी वर्णमातृका का निरूपण है। इस खण्ड में आठ अयोगवाहो के अन्तर्गत स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, लृ लृ आदि औरस्य उष्मवर्ण तथा यम के स्वरूप का सुस्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण है।

द्वितीय खण्ड में औपपादिक १८७ वर्णों का प्रतिपादन है, जिनमें १७ वर्ण तो आर्षेयी वर्णमातृका वाले ही हैं, किन्तु इनसे अतिरिक्त १७ औपपादिक वर्णों का अधिक निरूपण है।

तृतीय खण्ड में ६३ या ६४ वर्णों वाले ब्राह्म वर्णसमाम्नाय का वर्णान है जिनका निर्देश-स्वरा विशतिरेकश्च स्पर्शाना पञ्चविंशति। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृता आदि दो कारिकाओं में किया गया है। चतुर्थ खण्ड में ५१ वर्णों वाले माहेश्वर वर्णसमाम्नाय का निरूपण किया गया है।

पञ्चम खण्ड में मयामुर-विभाग द्वारा परिचालित होडाचक्रनामक ३७ वर्णों वाली आमुरी वर्णमातृका का निरूपण है।

वर्णनिर्देशादि-परिशिष्ट-विचार नामक षष्ठ खण्ड में वर्णमाला को मातृका क्यों कहा जाता है इसका निरूपण किया गया है। अर्थात् अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते हैं और वर्ण ध्वनि के परिच्छेद हैं, अतः इन वर्णों को 'मात्रा एव मात्रिका' इस व्युत्पत्ति से स्वार्थ में क प्रत्यय के द्वारा मात्रिका कहा जाता है। मात्रिका-शब्द ही उच्चारण की समानता से मातृका कहलाता है। अथवा यह

वर्णमाला माता की तरह भिन्न भिन्न देशभाषाओं की जननी है, इसलिये इसी साम्य से वर्णमाला को मातृका कहा जाता है।

तत्पश्चात् यह बतलाया गया है कि व्यवहार भाषा से ही निष्पन्न होता है। अतः सर्वप्रथम भाषा ही लोकव्यवहार में प्रवृत्त होती है। तदनन्तर शब्द शब्द उसमें वाक्य, पद व वर्णों के विभाग प्रचलित हुए हैं। प्रारम्भ में वर्णों की विशेषता के कारण ही भिन्न-भिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न सज्ञायें प्रवृत्त हुईं। जैसे रेफ अक्षर का वाचक है इस विशेषता के कारण 'र' की रेफ-सज्ञा हुई। तदनन्तर शब्द शब्द वर्णों के आगे कारशब्द, तथा इतिशब्द लगाकर वर्णों की सज्ञायें प्रचलित हुईं। जैसे—अकार ककार आदि 'अ' तथा 'क' की सज्ञायें हैं। इसी प्रकार अ + इति = एति, अ की सज्ञा, विति व की सज्ञा बनी। इसी प्रकार व्यञ्जनो में स्वर के योग से भी वर्णसज्ञायें बनती हैं। जैसे—क, ख, ग, घ आदि। किन्तु वर्णसज्ञा का यह नियम सभी भाषाओं में है। जैसे—इंग्लिश में एच्, एल्, एफ, वी, सी डी आदि में 'ए' तथा 'ई' स्वर जोड़कर वर्णों का बोध किया जाता है। पारसी भाषा में भी वे, पे, ते, टे, से, में यही नियम लागू होता है।

यमानुवाकनामक द्वितीय प्रपाठ में यम के विषय में चार मतों का निरूपण किया गया है। इस प्रकरण में सर्वप्रथम शुद्धजित्, सोष्मजित्, शुद्धधि, सोष्मधि भेद से चार भेद यम के बतलाये हैं और उनकी क्रमशः कृ, पुं, गुं, धुं, सज्ञाओं का निर्देश किया गया है। इसके पश्चात् यम के स्वरूप में चार प्रकार के मतों का प्रदर्शन किया गया है।

प्रथम मत के अनुसार पञ्चम वर्ण के परे होने पर पूर्व वर्ण के द्वित्व होने पर द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। यही यम है। इस पक्ष में यम पूर्व वर्ण के सदृश वर्णगम है। इसी मत को मण्डूक, वर्णरत्नप्रदीपिकाकार तथा श्रीदत्तजि मानते हैं। इस मत में पञ्चम वर्णों के परे होने पर उनसे पूर्व वर्णों के प्रथमादि चार अक्षरों के वर्गभेद से २० होने के कारण यम २० है। किन्तु शुद्धजित् आदि भेद से वे चार ही हैं।

द्वितीय मत के अनुसार दो पदों के मध्य वर्तमान अर्धमात्राकालिक यति की तरह दो अक्षरों के बीच भी यति होती है। जैसे 'सञ्जतु' इस पद में सकारोत्तरवर्ती अकार तथा ककार के मध्य यति है। इस यति में 'सञ्जतु' ऐसा

उच्चारण होता है। किन्तु यह यति अ व क के मध्य में ही हो, यह नियम नहीं, क व रेफ के मध्य भी हो सकती है। उस समय 'सक् ऽ रतु' ऐसा उच्चारण होता है। पूर्वोत्तरवर्ती दो व्यंजनो की तरह यह यतिरूप विच्छेद दो स्वरो के बीच भी होता है किन्तु दो स्वरो के मध्य का विच्छेद विवृति कहलाता है और दो व्यंजनो के मध्य का विच्छेद यम। इस मत में यम दो व्यंजनो के मध्य का विच्छेद है, आएव वह अशरीर है। इसी मत को अमोय-नन्दिनोकार, प्रदोषकार आदि ने माना है। इस मत में अनुनासिक वर्णों के परे होने पर उनके तथा वर्णों के प्रथमादि चार वर्णों के मध्य विच्छेदरूप यम २० है तथापि अनुनासिक वर्णों से पूर्व विद्यमान व्यंजन अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण भेद में चार ही प्रकार के हैं, अतः उनके तथा पञ्चम वर्णों के मध्य विद्यमान विच्छेद रूप यम भी चार ही हैं।

तृतीय मत यह है कि पदान्त की तरह पद के मध्य में भी स्थानकरण-सयोगज वर्णों की तरह वेग से स्थान व करण के विभाग से विभागज वर्ण भी उत्पन्न होता है। पदमध्यस्थ यह विभागज वर्णरूप व्यंजन ही उससे आगे वर्तमान अनुनासिक वर्ण के प्रभाव से जब नासिक्य हो जाता है तो यम कहलाता है। पलिक्कनी आदि में यही स्थिति है। वर्णों के पञ्चम अनुनासिक वर्ण परे होने पर उससे पूर्व प्रत्येक वर्ण के चारो व्यंजन द्वित्व होकर यम होते हैं। इस प्रकार इस मत में यमो की संख्या २० है।

चतुर्थ मत के अनुसार यम २० नहीं है किन्तु चार ही हैं और वे कु, खु, गु, घु हैं। वर्णों के पञ्चम अनुनासिक वर्ण के परे होने पर सभी वर्णों के चारो वर्णों को द्वित्व होने पर कु, खु गु घु, ये ही यम होते हैं। जैसे 'आतनच्मि' में च को द्वित्व होने पर उसके स्थान में कु यम होकर 'आतनच्क्मि' ऐसा ही उच्चारण होता है। इसी प्रकार समार्ज्मि में 'ज' को द्वित्व होकर 'गु' यम होने से 'समार्ज्ग्मि' उच्चारण होता है।

गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ में वर्णहित गुणो का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम वाक् के स्थानभेद से वेकुरा, सुब्रह्मण्या गौरिवीता तथा आम्भृणी ये चार भेद बतलाये हैं। इनमें स्वयम्भू-मण्डल की वाक् वेकुरा, परमेष्ठिमण्डल की सुब्रह्मण्या, सौरमण्डल की गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डलयुक्त 'पृथिवीमण्डल की वाक् आम्भृणी है। ये चारो वाक् ही स्वयम्भू आदि मण्डलो

मे स्थित सर्वपदार्थों की जननी हैं। पृथिवीमण्डलस्थ यह आम्भृणी वाक् भूमि मे सर्वत्र व्याप्त है, इसी से मनुष्य उपजीवित हैं।

प्रकारान्तर से इम वाक् के अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री ये चार भेद किये गये। हैं। इनमे ऋक्, साम, यजूरूप वेदत्रयी अमृता वाक् है। इसी से समस्त विद्व उत्पन्न होता है, इसी मे प्रतिष्ठित रहता है तथा इसी मे लीन होता है। यह वाक् आकाशरूप है। यह अग्नि से उत्पन्न होती है। अथर्ववेद पारमेष्ठित्य ऋतवाक् है। इसी से भूत उत्पन्न होते हैं। यह वाक् दिक्सोम से उत्पन्न होती है। यह वाक् अथर्व-वेद-रूप है। दोनों वाक् ध्वनिरहित हैं। अत एव इनका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। ध्वनिरूप वाक् श्रोत्र से गृहीत हाता है। यह ध्वनि वाक् भो अनर्थक व अव्याकृत तथा सार्थक व व्याकृत भेद से दो प्रकार की है। वर्णपदवाक्यादि-विभाग-रहित अत एव अव्याकृत वाक् वायव्या है। वह वायु से उत्पन्न होती है। वर्णपदवाक्य-विभाग-युक्त व्याकृत वाक् ऐन्द्री है, वह सार्थक है, क्योंकि उससे अर्थबोवनरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस वाक् मे वर्णपदवाक्यादिविभाग इन्द्र द्वारा किये जाते हैं, अतएव इसे ऐन्द्री भी कहा जाता है।

इसी प्रकरण मे उपर्युक्त चारो प्रकार की वाक् को लेकर तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, वर्णा, अक्षर, पद, वाक्य, पशुवाक्, पक्षिवाक्, सरीसृपवाक् तथा मनुष्यवाक् रूप से वाक् के चार चार भेद मानकर 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि इत्यादि मन्त्र का समन्वय प्रदर्शित किया गया है। तत्पश्चात् वण, अक्षर, पद वाक्य मे प्रत्येक के क्रमश चार-चार भेद बतलाये गये है।

इसके पश्चात् प्रक्रमस्थान, मुग्यस्थान, काल, करणप्रयत्न व अनुप्रदान-प्रयत्न भेद से वर्णों की व्याख्या की गई है। अर्थात् प्रक्रमस्थानादि के भेद से वर्णों का निरूपण किया गया है। इन्ही के कारण एक ही अकार नाना-वर्णों के रूप मे परिणत हो जाता है। जैसा कि 'अकारो वै सर्वा वाक्, सैपा स्पर्शोष्मिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' इस ऐतरेयारण्यक श्रुति से सिद्ध हो रहा है।

उपर्युक्त श्रुति मे स्पर्श और उष्म शब्द स्थानों और करणो के सन्निकर्ष तथा विप्रकर्ष के बोधक हैं। स्थान और करण बाह्य तथा आम्भ्यन्तर भेद से

दो प्रकार के हैं। मुखस्थान से वहिर्भूत उरम्, गिरिस् आदि बाह्य स्थान हैं या मुखाम्यन्तर-वर्तमान कण्ठादि आभ्यन्तर हैं। बाह्य स्थानों को प्रक्रम तथा बाह्य करणों को अनुप्रदान कहते हैं और मुख के अन्दर विद्यमान कण्ठादि स्थानों को मुखस्थान व करणों को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। इन उभयविध स्थानों व करणों में प्रयत्नविशेष से स्थानों व करणों का सकोच व प्रसार होता है। और इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न ये चारो गुण वणविशेष की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

इसी प्रकार उपयुक्त श्रुति में स्वश तथा उष्म शब्द दो स्वरों के सश्लेष विश्लेष के भी बोधक है। स्वरों के विश्लिष्ट उच्चारण में एक मात्रा का काल तथा सश्लिष्ट उच्चारण में द्विमानकाल लगता है। विश्लेष तथा सश्लेष में जन्म यह कालरूप गुण भी वर्णविशेष की उत्पत्ति में कारण है। इस प्रकार प्रक्रम, अनुप्रदान, मुखस्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्न व काल इन पाँचो गुणों से किस प्रकार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है, इसी रहस्य का विवेचन इस प्रकारण में आगे क्रमशः किया गया है।

अक्षरनिर्देशनामक चतुर्थ प्रपाठ में परब्रह्मविद्या तथा शब्दब्रह्मविद्या की समानता प्रतिपादित करते हुए बतलाया गया है कि जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में पर (अव्यय) अक्षर (प्राण) तथा क्षर (भूत) ये तीन तत्त्व हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में भी स्फोट, अक्षर (स्वर) तथा क्षर (व्यजन) ये तीन तत्त्व हैं। जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में पृथिव्यादिभूतरूप क्षरो की सत्ता प्राणरूप अक्षर के अधीन है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में क्षररूप व्यजनों की सत्ता अक्षररूप स्वरों के अधीन है। जिस तरह परब्रह्मविद्या में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि व सोम ये पाँच मौलिक अक्षर हैं, उसी प्रकार वाग्ब्रह्मविद्या में भी अ, इ, उ, ऋ, लृ, ये पाँच अक्षर हैं। जिस तरह परब्रह्मविद्या में ब्रह्मादि अक्षरों से ही सारे भूतरूप क्षर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में अकारादि पाँच स्वरात्मक अक्षरों से ही सम्पूर्ण व्यजनरूप क्षर उत्पन्न होते हैं। जैसे—परब्रह्मविद्या में क्षर अक्षर में आश्रित हैं और अक्षर अव्यय में समन्वित रहते हैं वैसे ही शब्दब्रह्मविद्या में व्यजन स्वर में आश्रित हैं तथा स्वर स्फोट रूप आलम्बन पर आश्रित रहते हैं।

इसके पश्चात् वण तथा अक्षर का पुरुषभेद, सख्याभेद, योनिभेद,

व्यापारभेद, वीर्यभेद, प्रतिष्ठाभेद, अङ्गाङ्गिभावभेद, तथा प्रतिपत्तिभेद इन आठ कारणों से भेद सिद्ध किया है ।

पश्चात् द्वितीय खण्ड में वरुणों के अङ्गाङ्गिभाव का प्रतिपादन किया है । अधिदैवत में वृहती इन्द्र का छन्द है । नवाक्षर छन्द की वृहती सजा है । अत इन्द्र द्वारा व्याहृत अत एव ऐन्द्री स्वरवर्णरूप वाक् भी नव अवयवो या नव विन्दुओं वाली है । अर्थात् नौ विन्दु या ९ अर्धमात्रायें, स्वर का व्याप्तिस्थान क्रान्तिमण्डल या महिमामण्डल है । स्वर एकमात्रिक होता है । अत वह अर्ध-मात्रिक पञ्चम व षष्ठ इन दो विन्दुओं पर स्थित रहता है । क्योंकि प्राण या आत्मा केन्द्र में ही स्थित होता है, अत स्वररूप प्राण भी इन नौ विन्दुरूप अर्धमात्रिक व्यञ्जनवरुणों के मध्य में रहता है । तथापि इसका व्याप्तिस्थान या क्रान्तिस्थान ९ विन्दु तक रहता है । अर्थात् इतने प्रदेश में वर्तमान व्यजनो को यह स्वर आत्मसात् करने में समर्थ है । जहाँ कोई व्यजन नहीं होता, वहाँ केवल स्वर ही अक्षर कहलाता है तथा पूर्व या उत्तर में जहाँ व्यजन होते हैं, वहाँ व्यजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता है । यही बात 'स्वरोऽक्षर सहादयैर्व्यञ्जनैरुत्तरैश्चाव-सित ' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने बतलाई है ।

जब कोई व्यजन दो स्वरो के व्याप्तिस्थान में आ जाता है, तब दोनों स्वरो के बल का विचार कर जिस स्वर का बल उस व्यजन पर अधिक होता है उसी का अग्र माना जाता है, दूसरे का नहीं । जैसे कुल शब्द में 'ल' पर पूर्ववर्ती उकार स्वर की तथा परवर्ती अकार स्वर की व्याप्ति है तथापि वह उत्तर स्वर का ही अग्र है स्वर का नहीं क्योंकि प्रत्येक स्वर में पृष्ठत चार पाद तथा पुरत तीन पाद बल होता है । अत लकार पर अकार का चार पाद बल है तथा उकार का तीन पाद बल है । अत अकार का अधिक बल होने से वह उसी का अग्र है ।

तृतीय खण्ड में अक्षर में देवता का ध्यान बतलाया गया है । 'तस्य वा एतस्याग्नेवगिवोपनिषत्' इस श्रुति के अनुसार वाक् पार्थिव और अग्निदेवताक है, क्योंकि पृथिवी का अग्नि देवता है । तथापि यह वाक् इन्द्ररूप प्राण से अधिष्ठित है अत उसके साथ एक होने से ऐन्द्री (इन्द्रदेवताक) कहलाती है । यह इन्द्र प्राण आन्तरीक्ष्य व दिव्य भेद से द्विविध है । दिव्य इन्द्रप्राण प्रज्ञाप्राण है । वही इस वनिरूप वाक् में स्वर-व्यजनरूप विभाग करता है ।

आन्तरिक्ष्य इन्द्र वायु से सयुक्त रहता है। इन्द्र-तुरीय वायु ही ऐन्द्रवायव ग्रह बन कर आग्नेयी इस ध्वनि वाक् पर अधिष्ठित रहता है। उपर्युक्त रीति से अग्नि व इन्द्र ये दो देवता इस वाक् के हैं। अग्नि अष्टावयव होती है, अत एक स्वर तथा उसके अनुगत सात व्यंजन एक अक्षररूप वाक् हैं। इस वाक् का उक्थ (नाभि) रूप अश स्वर पञ्चम तथा षष्ठ विन्दु पर स्थित रहता है तथा उसका प्राणरूप इन्द्र वृहती रूप नौ विन्दुओं को व्याप्त करता है। इसी लिए 'यावद् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्' इस श्रुति में इन्द्र या आत्मरूप ब्रह्म की व्याप्ति वाक् में बतलायी गयी है। यहाँ अहम् इन्द्रप्राण या आत्मा का वाचक है। इस प्रकार स्वरस्वरूप-निरूपक प्रज्ञाप्राणरूप इन्द्र भिन्न है तथा एक स्वर तथा सात व्यंजन, इस प्रकार मिला कर अर्धमात्रिक नौ विन्दुओं पर व्याप्त रहने वाला आन्तरिक्ष्य इन्द्र प्राण भिन्न है। इस आन्तरिक्ष्य इन्द्र को ही 'बीभत्सूना सयुज हसमाहु' इत्यादि ऋड्मन्त्र में हस पद से व्यवहृत किया गया है। क्योंकि यही ६ विन्दुओं पर व्याप्त इन्द्रप्राण अपने उच्चारण में दूसरे की अपेक्षा रखने वाले अत एव परतन्त्र व्यंजनों को आश्रय प्रदान करता है; और अपने में उन्हें बद्ध रखता है।

वाक् अक्षररूप है क्योंकि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत, सेद सवमाप्नोत् यदिद किञ्च' यह यजु-श्रुति वाक् को अक्षररूप बतला रही है। तृतीय चुलोक में अर्थात् परमेष्ठी लोक में इस अक्षररूप वाक्-तत्त्व के साथ यह ऐन्द्रवायव-ग्रहरूप हस रहता है। अर्थात् ऐन्द्रवायवग्रहरूप इन्द्रप्राण तथा वाक् अविनाभूत हैं। नौ विन्दुओं को व्याप्त कर रहने वाले वाक् के अधिष्ठाता इस इन्द्र का विद्वानो ने विचारदृष्टि से साक्षात्कार किया।

इस प्रकरण में यह भी बतलाया गया है कि इन्द्रप्राण का वाक्तत्त्व में दो प्रकार से विनियोग है—सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप इन्द्र इस वाक्तत्त्व में वण, अक्षर, पद, वाक्य आदि विभाग करता है और इसकी सत्ता व्याकृत मनुष्य वाक् में ही है। अत वही वर्ण, पद, वाक्यादि विभाग हैं। सत्यप्राणरूप से यह इन्द्र व्याकृत व अव्याकृत सभी प्रकार की ध्वनियो में रहता है। अर्थात् सभी प्रकार की ध्वनियो का वह इन्द्र सत्यरूप से अधिष्ठान है। सभी प्रकार की वाक् में इसकी सत्ता मानने की आवश्यकता यह है कि वाक्तत्त्व अक्षररूप होने से अत अत एव निरात्मक है। वह बिना आश्रय

के रह नहीं सकती है। अतः उसका आश्रय यह सत्यप्राणरूप इन्द्र है। इसी के कारण वह अपरिच्छिन्न ऋत-वाक् परिच्छिन्न होकर सत्यरूप बनती है। अन्त में इस प्रकरण के पञ्चम खण्ड में अक्षरों के गुरुभाव तथा लघुभाव के कारण का विवेचन है।

सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम खण्ड में स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, विभक्तिसन्धिभेद से विभिन्न सन्धियों की मौलिक उपपत्तियाँ बतलायी गयी हैं। पाणिन्यादिनिर्मित व्याकरणशास्त्रों में सन्धियों के नियममात्र बतलाये गये हैं, किन्तु उन सन्धियों के मूल कारण का दिग्दर्शन उन शास्त्रों में लेशत भी नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में उन सन्धियों के मूल कारण का दिग्दर्शन कराया गया है। सन्धियाँ वर्णों का परस्पर सम्बन्ध होने पर होती हैं। वर्णों का वह सम्बन्ध सर्वप्रथम विभूति तथा योगभेद से दो प्रकार का है। शब्द-ब्रह्म व अर्थब्रह्म का एक ही प्रकार है। अतः अर्थब्रह्मरूप परब्रह्म-विद्या में जिस प्रकार पदार्थों के विभूति व योग दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, उसी प्रकार शब्दब्रह्म-विद्या में भी वर्णों के ये दो प्रकार के सम्बन्ध हैं। अर्थब्रह्म में व्यापक का व्याप्य में अनुग्रह विभूति कहलाता है। जिस प्रकार व्यापक ब्रह्म का व्याप्य भौतिक पदार्थों में, जल का लवण में, आकाश का वायु में, उसी प्रकार व्यापक स्वर का व्याप्य व्यञ्जनो के साथ सम्बन्ध विभूति सम्बन्ध है। क्योंकि स्वर का व्यञ्जनो पर अनुग्रहमात्र है, बन्धन नहीं। स्वर व्यञ्जनो को व्याप्त करता है, स्वर के बिना व्यञ्जन की स्थिति ही सम्भव नहीं। इसी प्रकार व्यञ्जनो का भी व्यञ्जनो के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध होता है। जैसे—रामाणाम्, वर्णणाम् इत्यादि में रेफ व मूधन्य प्रकार का उत्तर-वर्ती नकार के साथ अनुग्रहात्मक विभूति-सम्बन्ध है। इसके कारण 'रामाणाम्' इत्यादि में 'न' 'ण' 'मे' परिवर्तित हो जाता है।

व्याप्य का व्यापक में सम्बन्ध सश्लेष कहलाता है। यह इकतरफा सम्बन्ध या बन्धयोग कहलाता है। जैसे—प्रकृति में, लवण का जल के साथ, वायु का आकाश के साथ। इसी प्रकार व्याप्य व्यञ्जनो का स्वर में सम्बन्ध सश्लेष है। यहाँ व्यञ्जन का स्वर में सम्बन्ध है, स्वर का व्यञ्जन में नहीं, अतः यह इकतरफा बन्धयोग है। इसी तरह क्षररूप व्यञ्जनो का व्यञ्जन से सम्बन्ध भी सश्लेष होता है। इस सश्लेष-सम्बन्ध में एक वर्ण का दूसरे वर्ण से सम्बन्धमात्र

होता है, एक वर्ण का दूसरे वर्ण में अनुप्रवेश नहीं। इस सशेष-सम्बन्ध में भी वर्णों का परस्पर अनुप्रवेश न होने से सम्बन्ध होने पर भी वर्णागमादि या वर्णपरिवर्तनरूप सन्धिफल नहीं होता।

सम्परिष्वङ्गरूप तृतीय सम्बन्ध वर्णों का परस्परसन्धरूप, अत एव परस्परानुप्रवेशरूप है। दो स्वरो का जो परस्पर सम्परिष्वङ्गस्य सम्बन्ध होता है, तब कहीं तो उनमें प्रसारणरूप परिवर्तन होता है जैसे—दीर्घ, गुण व वृद्धिसन्धि में और कहीं अनुप्रवेश के कारण दबाव से स्वरो का संकोच होता है जैसे—यणसन्धि में। दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति इत्यादि उदाहरणों में आदि स्वर इकारादि का परस्पर अकारादि के साथ सम्बन्ध होने पर दबाव के कारण पूर्व एकमात्रिक इकारादि स्वर की उत्तर अधमात्रा नष्ट हो जाती है और इस कारण अवशिष्ट अर्धमात्रिक इकारादि तत्स्थानीय यकारादि स्पर्शों में परिवर्तित हो जाते हैं।

स्वरसन्धि में एक स्वर की द्वितीय अर्धमात्रा दूसरे स्वर की पूर्व अधमात्रा से मिलकर एक हो जाती है। व्यञ्जन-सन्धि में एक स्वर से निगृहीत व्यञ्जन का दूसरे स्वर से निग्रहण होता है। जैसे—तत् + आगमनम्, में द्वितीय तकार का ग्रहण सन्धि से पूर्व उसके पूर्ववर्ती स्वर से होता है, और वह उसीका अङ्ग है। किन्तु जश्त्वसन्धि के बाद 'तदागमनम्' बन जाने पर 'द' का ग्रहण उत्तरवर्ती अकाररूप स्वर से होता है और वह उसी का अङ्ग होता है। उच्चारण के द्वारा इन दोनों भेदों को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। यही स्थिति अन्य व्यञ्जनसन्धियों में है।

स्वरसन्धि तथा व्यञ्जनसन्धि दोनों में ही वर्णगुणों का अतिरेक अर्थात् परिवर्तन होता है। वर्णों के उपादानभूत अर्थान् उत्पादक वायु में वर्णस्वरूप-विशेष का उत्पादक बल वर्णगुण कहलाता है। वह बल आरम्भक तथा विशेपक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूपोत्पत्ति में काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। आरम्भक बल स्वरोपधायक, अङ्गोपधायक, स्पर्शोपधायक, स्थानोपधायक तथा नादोपधायक भेद से पांच प्रकार का है। इन्हीं के कारण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से भिन्न-भिन्न स्वरो की तथा भिन्नस्थानीय वर्णों की उत्पत्ति होती है। इन आरम्भक बलों से सन्धिभेद उत्पन्न नहीं होते हैं। किन्तु इन्हीं आरम्भक बलों में जब

विशेषाधानहेतु विशेषक बल का विनियोग होना है, तत्र विभिन्न सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। क्योंकि विशेषक बल उपजनक, उपगतक, विशेषक, विशेषा-धायक एव निरोधक भेद में पाँच प्रकार का है। जन दर्शागम, वर्णलोप, वर्ण-विपर्यय, वणादिज तथा प्रगृह्य अर्थात् स्वप्न ने स्थिति ये पाँच सन्धिफल उत्पन्न होते हैं। उपजनक-रूप विशेषक बल दर्शागम का, उपगतक वर्णलोप का, विशेषक वर्णविपर्यय का, विशेषाधायक वणादिज का तथा निरोधक प्रगृह्यरूप सन्धिफल का जनक है। निम्नादि वचन न अभियुक्तों के द्वारा इन्हीं पाँच सन्धिफलों का निरूपण किया गया है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तलोपस्तदादेश इमे विवागाः ।

स्थिति प्रवृत्त्येति च पञ्च मन्त्रे फलानि वणद्वयभक्तिकर्षे ॥इति॥

‘भयो होञ्ज्वतरस्वाम्’ ‘ड सि घुद्’ ‘णि तुर्’, ‘णो कुर् डर् धरि’, ‘छे च’, ‘दोघात्’, ‘अनचि च’ इत्यादि सूत्रों से होने वाले द्वित्व वर्णागम के ही अतर्गत हैं। इसी प्रकार ‘स्वादीरेरिणो’, ‘न्दते च तृतीयाममाने’, प्रवत्नतर-कम्बलवमनार्णदशानामृणो’, ‘उपमर्गादिति घाती’ इत्यादि-भे होने वाली वृद्धि-सन्धियाँ भी अकाररूप वर्णागम के ही उदाहरण हैं। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, सजभार, विश्ववाद्, मुद्, घुग्, इत्यादि भी इसी के उदाहरण हैं। गर्भादि में ‘ह्’ में पूर्व ‘व्’ का आगम तथा विश्ववाद् व घुक् में क्रमशः ड् व ग् का आगम है।

‘उद स्यान्तम्भो पूर्वस्थ’, ‘लोप शाकल्यम्न’ इत्यादि वर्णलोप के उदाहरण हैं। उप्पिक् आदि में उत् के त् न लोप तथा तृचम् में र तथा य का लोप भी इसी के उदाहरण हैं। ‘अक्षाद्रूहिन्यामुपमस्थानम्’ ‘प्राद्रूहोदोब्ध-पैप्येसु’ इत्यादि से होने वाली सन्धि वर्णविपर्यय का उदाहरण है जिसका स्पष्टीकरण मूल तथा टिन्दी-व्याख्या में कर दिया गया है। ‘पश्यक’ शब्द से निष्पन्न ‘कश्यप’, ‘कश्य’ से निष्पन्न कच्छ, शय व श्लथ शब्द से निष्पन्न शिथिर व शिथिल शब्द, अत्र शब्द से निष्पन्न ‘आत्’, एवशब्द से निष्पन्न वं शब्द, तु शब्द से निष्पन्न उत् शब्द भी इसी वर्णविपर्यय के उदाहरण हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, वम्, भूमा, भूयान्, निघण्टु आदि भी इसके उदाहरण हैं।

आरम्भक बल में विशेषक बल के उदय से जब लोप, आगम, विपर्यय बलों के समुच्चय के कारण वणगुणों में किसी का वा नाश, किसी का

आगम तथा किसी का विपर्यय एक साथ होता है, उसे वणदिश कहते हैं। जैसे—वर्णों के आरम्भक स्थानोपधायक बल में द्रुति, सम व प्लुति—ये तीन गतिरूप बल हैं। इनमें द्रुति गति के कारण वायु का प्रथम स्थान वण्ठ में, सम गति के कारण तालु, मूर्धा, दन्त इन तीन मध्यम स्थानों में से किसी एक में तथा प्लुति-गति के कारण वायु का अन्तिम स्थान ओष्ठ में पात होता है। 'शुष्क' शब्द में द्रुति-गति के कारण कण्ठस्थान में वायु का पात होने में 'त्' के स्थान में 'क' का उच्चारण होता है। 'पक्व' में प्लुति-गति के कारण वायु का ओष्ठस्थान में पात होने से 'त्' का 'व्' उच्चारण होता है। इसी प्रकार 'कृष्ट' आदि में तकार का टकार उच्चारण होता है। इस प्रकार विभिन्न सन्धियों के कारण वर्णगमादि ही हैं।

१—इस रीति से संक्षेप में इस पुस्तक में विभिन्न कतिपय वर्णमालाओं का अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रामाणिक निरूपण किया गया है। वैदिक भाषा में प्रचलित स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य, उध्मा, यम आदि का एकत्र इतना स्पष्ट निरूपण प्राचीन शिक्षाग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होता। भाषावैज्ञानिकों ने भी भाषाविज्ञान की पुस्तकों में केवल वैदिक भाषा में इतनी ध्वनियाँ हैं, लौकिक सस्कृति में इतनी, इतना सा निरूपण किया है, किन्तु इन ध्वनियों का इतना विस्तृत व स्पष्ट विवेचन लेशमान भी उन पुस्तकों में नहीं मिलता और न उनके उच्चारणभेद का प्रकार ही वहाँ मिलता है। जैसे विसर्ग के ओभाव, विवृत्ति, श, य, स, रेफ, जिह्वामूल व उपध्मा ये = भेद भिन्न-भिन्न स्थानों में हो जाते हैं तथा सर्वत्र भिन्न-भिन्न ही इसका उच्चारण होता है। इसी प्रकार अकारादि स्वरों से परे भी विसर्ग के उच्चारण में अन्तर हो जाता है।

२—ऐन्द्र चान्द्र काशकृत्स्न शाकट पाणिनीयकम्' इत्यादि रूप से तथा इदमक्षर छ दो वर्णश समनुकान्तम् ।
 ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय ।
 इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज ऋषिभ्यः ।
 ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ।

इस अक्षरसमाम्नाय की परम्परा में इन्द्र के नाम का उल्लेख होने से अष्ट व्याकरण-निर्माताओं में इन्द्र का नाम लिया जाता है। चाद्रादि व्याकरण-

शास्त्रों की तरह इन्द्रनिमित्त व्याकरण-शास्त्र भी चाहे कभी कोई रहा हो, किन्तु अग्निदेवता में अर्थात् प्रकृति में किम प्रकार ध्वनिरूप अव्याकृत वाक् को इन्द्र प्राण ने स्वरव्यञ्जनरूप से व्याकृत किया, इसकी मौलिक उपपत्ति इस पुस्तक में ग्रन्थकार ने वेदग्रन्थों के आधार पर सप्रमाण बतलाई है। जिसका निरूपण इस पुस्तक के गुणपरिष्कार-नामक तृतीय प्रपाठ में किया गया है।

३-‘अथो वागेवेद सवम्’ ‘वाचीमा विश्वा भुवनान्यपिता’ इत्यादि श्रुतियाँ वाक् को ही सर्व विश्व का उपादान कारण बतला रही हैं। ‘अनादिनिघन नित्य शब्दतत्त्व यदक्षरम् । विवततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत्’ इस पद्य से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी शब्दब्रह्मरूपी नित्यवाक् का अर्थभाव से अर्थात् जगद्रूपसे परिणाम बतलाया है। उस विश्व का उपादानकारण कौनसी वाक् है इसका विवेचन स्वायम्भुवी, पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी भेद से वाक् के चार भेद बतलाकर स्वायम्भुवी, ऋग्यजु सामरूपा, अमृता वाक् को विश्व का कारण बतलाते हुए किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य पारमेष्ठ्या, सौरी तथा पार्थिवी वाक् का भी प्रतिपादन इस पुस्तक में सुस्पष्ट रूप से किया गया है। इस चार प्रकार की वाक् में हम लोग जिसके लिए वाक् का प्रयोग करते हैं, वह वाक् व्याकृता पृथिवी वाक् है। साथ ही ‘चत्वारि वाक् परिमिता पदानि’ इस श्रुति का भी अनेक प्रकार से श्रुतियों के आधार पर सप्रमाण समन्वय किया गया है।

४-‘अकारो वै सर्ववाक् संपा स्पर्शोऽपिभिव्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति’ इस ऐतरेयश्रुति के अनुसार एक ही अकाररूप वाक् से प्रक्रमरूप बाह्य-स्थान, अनुप्रदानरूप बाह्यकरण, मुत्तस्थानरूप आन्तर-स्थान, आन्तर-प्रयत्नरूप आन्तर करण एवं स्वरो के विश्लेष-सश्लेषरूप काल इन पाचों गुणों के कारण समस्त वर्णों का प्रादुर्भाव है, इसका मौलिक विवेचन इसमें हुआ है। यद्यपि आधुनिक भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में इसका विवेचन है। किन्तु मुखबाह्य स्थानों में नाभि, कण्ठ व शिर में, नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति मानने पर किस प्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद हो जाते हैं—इसका विवेचन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसी पुस्तक में मिलता है, अन्यत्र नहीं।

५-द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माविगच्छति ॥

इस श्रुति के आधार पर शब्दब्रह्म व अर्थब्रह्म की समानता है और अथर्वब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म की प्रक्रिया है। जिम तरह—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि क्लृष्ट योऽक्षर उच्यते ॥
उत्तम पुरपस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभक्त्यव्यय ईश्वर ॥

इन गीतावचनों के अनुसार प्रकृति में अर्थब्रह्म में अव्यय अक्षर व क्षर की सत्ता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म में भी स्फोट (अव्यय), स्वर (अक्षर), व्यजन (क्षर) इन तीनों की सत्ता है।

६-स्वर के अक्षररूप होने से तथा व्यजनो के क्षररूप होने से वे एक नहीं हैं किन्तु उनमें मौलिक भेद है। अक्षर शब्द एकाकी स्वर के लिए भी प्रयुक्त होता है तथा व्यञ्जनविशिष्ट स्वर के लिए भी। एक स्वर की व्याप्ति नौ बिन्दुओं (अध-मात्राओं) तक होती है। उनमें मध्य के दो बिन्दुओं से स्वर के स्वरूप का निर्माण होता है तथा शेष पूर्वापर सात बिन्दुओं पर उसकी व्याप्ति होती है। इत्यादि मौलिक विषयों का प्रतिपादन इसी पुस्तक में सर्वप्रथम हुआ है।

७-दो स्वरों के, दो व्यजनो के तथा स्वर और व्यजन के मिलने पर नाना संधियाँ होती हैं जिनका विवेचन व्याकरणशास्त्र में मिलता है, किन्तु दो वर्णों के मिलने पर ये नाना प्रकार के सन्धिविकार किये जाते हैं, इसका वैज्ञानिक व मौलिक विवेचन इसी पुस्तक के सन्धिपरिष्कार-नामक पञ्चम प्रपाठ में हुआ है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन की इसलिए भी आवश्यकता है कि इसके बिना स्वरों और व्यजनो के समीचीन स्वरूप का ज्ञान भाषाविज्ञान पर ग्रन्थ लिखने वालों को भी नहीं हो सकता। भाषाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले एक विद्वान् ने 'पतञ्जलि,

१ (क) स्वय राजते स्वरा, अत्रान् भवति व्यजनम् ।

(ख) व्यजनानि पुनरुत्प्राप्यन्व भवति । तद्वयया नटाना स्त्रियो रङ्ग गता यो न पृच्छति कस्य भूय कस्य भूयम् इति, त त तवेत्याहु । एव व्यजनायपि यस्य यस्याश्च कायमुच्यते त त मज्जते । इति ।

(ग) य स्वय राजते त तु स्थरमाह पतञ्जलि ।

उपरिस्थापिना तेन व्यय्य व्यजनमुच्यते ॥

'याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों के आचार पर अपने उच्चारण में अन्य की अपेक्षा न रखने वाले 'अकारादिवर्ण' 'स्वयं राजन्ते इति स्वरा' इस व्युत्पत्ति में स्वर कहलाते हैं तथा जो वर्ण अपने उच्चारण में अपने से भिन्न अक्षरादि स्वरों की अपेक्षा रखते हैं, वे 'व्यञ्जन्ते स्वरस्पर्शरं' इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जन कहलाते हैं। जैसे— क, ख आदि वर्ण। इस प्रकार वे स्वर और व्यञ्जन का भेद बतलाते हुए भी लिखते हैं कि 'कहना न होगा कि भारत और यूरोप द्वारा प्रस्तुत यह परिभाषा कि 'व्यञ्जन वे हैं जिनका उच्चारण स्वर के बिना नहीं हो सकता और स्वर वे हैं जिनका हो सकता है', पूर्णतः गलत है। हिन्दी के तथाकथित अक्षरान्त शब्द यथायत् व्यञ्जनान्त हैं। अर्थात् उनके अन्त में व्यञ्जन अकेले विना स्वर की सहायता में उच्चरित होता है। जैसे—राम्, राप्, आप् आदि। भाषाविज्ञान पर पुस्तक लिखने वाले उन महाशय को यह भी विदित नहीं कि एक स्वर अपने में पूर्व चार व्यञ्जनों तथा अपने उत्तरवर्ती तीन व्यञ्जनों के उच्चारण में समर्थ है। वहाँ तक उसका महिमामण्डल है। जैसे—सूर्य बृहती पर आस्ट रहता हुआ भी सम्पूर्ण सौरमण्डल का प्रकाशक है, उमी प्रकार ७ व्यञ्जनों का मध्यवर्ती स्वर उन सातों व्यञ्जनों को प्रकाशित करने अर्थात् उन व्यञ्जनों को अपनी सहायता से उच्चरित करने की क्षमता रखता है।

'अत राम् इत्यादि में 'म्' का उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर अक्षर की सहायता से होता है न कि विना स्वर की सहायता से।

भाषाविज्ञानिक उदात्त, अनुदात्त, स्वरित को केवल सुर (Tone) अन्य मानते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं। यह भेद नाभि से उत्थित वायु के प्रथम प्रक्रम की उरम्, कण्ठ व शिरस् में समाप्ति होने से होता है। जब नाभि से उत्थित वायु के प्रक्रम की समाप्ति उरम् में होती है तो अनुदात्त स्वर, कण्ठ में होती है तो स्वरित और शिर में होती है, तो उदात्त होता है। इसका स्पष्ट निरूपण गुणनिरूपणरूप तृतीय प्रपाठ में विस्तार से किया गया है। अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन करने वालों को इसका अध्ययन करना चाहिये। नहीं तो पदे-पदे भ्रातियों की सम्भावना बनी ही रहेगी।

अतः उपर्युक्त दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यन्त मौलिक है। उपर्युक्त अनेक मौलिकताओं से इसकी उपादेयता स्वतः-सिद्ध है। यह पुस्तक सभी विश्व-

विद्यालयों में संस्कृत एम० ए० तथा भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए सग्राह्य होनी चाहिए, ऐसी मेरी धारणा है। विद्वान् यदि ध्यान से इसका अध्ययन करेंगे, तो मेरे इस कथन की उपयुक्तता अवश्य सिद्ध होगी।

विषयों की नवीनता को ध्यान में रखकर अतः में इसकी हिन्दी-व्याख्या भी दी गई है। इस विषय को हिन्दी में समझाकर प्रस्तुत करने का यह प्रयास तो किया गया है, किन्तु विषय की नवीनता तथा मेरी अनभिज्ञता से इसमें त्रुटियाँ अवश्य रही हैं। विद्वान् लोग उनकी तरफ ध्यान दिलायेंगे, तो मुझ पर उनका अत्यन्त अनुग्रह होगा और द्वितीय संस्करण में उनका परिमार्जन हो सकेगा।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के निदेशक, महामनीषी वेदभूति डॉ० फत्तहसिंहजी ने इस ग्रन्थ को राजस्थान-पुरातन ग्रन्थमाला से प्रकाशित करने का जो निर्णय लिया और इसके सम्पादन का दायित्व मुझे सौंप कर जो अनुग्रह किया इसके लिये मैं और वेद-जगत् उनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

विद्वद्बिधेय,
सुरजनदास स्वामी

श्री हरिः

पथ्यास्वस्तिः

वेदभाषाया वर्णमानुका प्रदर्शयते ।

परब्रह्माक्षर ज्ञातु शब्दब्रह्माक्षरस्थितिम् ।

विज्ञापयति विज्ञानप्रवर्णा मधुमूदन ॥१॥

वर्णाक्षर-ममाच्चाओऽनेकधा प्रतिपद्यते ।

छन्दोभाषानुगा तत्र पथ्यास्वस्तिर्निष्पद्यते ॥२॥

श्रोत्रापिधाना नकुली दन्तै परिवृता पवि ।

सर्वस्यै वाच ईशाना चार मामिह वादयेत् ॥३॥ (ऐतरेयश्रुति)

श्री सिद्धो वर्णसमाभ्यायः ।

२ तत्र ममान-प्रयत्ना भिन्नस्थाना यथा—

अ	इ	ऋ	लृ	उ—इत्यस्त्वृष्टा स्वरा ।
ऽ	य	र	ल	व—इतीपत्स्त्वृष्टा श्रन्त स्था ।
अ	य	ड	ळ	व—इतिदु स्त्वृष्टा श्रन्त स्था ।
ग	ज	ड	द	व—इति मृदुस्त्वृष्टा स्पर्शा ।
क	च	ट	त	प—इति तीव्रस्त्वृष्टा स्पर्शा ॥
ह	श	प	स	ह—इत्यर्द्धस्त्वृष्टा उष्मारा ॥

३ अथवा ममानस्थाना भिन्नप्रयत्ना यथा—

अ	ऽ	अ	ग	क	ह—इति कण्ठ्या ।
इ	य	य	ज	च	श—इति तालव्या ।
ऋ	र	ड	ड	ट	प—इति मूर्धन्या ।
लृ	ल	ळ	द	त	स—इति दन्त्या ।
उ	व	व	व	प	ह—इति श्रोत्र्या ।

इत्थ विशुद्धास्त्रिंशत् । हकारयो स्थानभेदेन भिन्नत्वेऽप्युच्चारण-
साम्यादैकवर्ण्याभिमाने त्वेकोनत्रिंशत् ॥२६॥

४ अथ समानप्रयत्ना द्विस्थाना यथा—

अं ईं ऋं लृं उं—इत्यस्पृष्टानुनासिका ।
 ० यं ० लं वं—इतोपत्स्पृष्टानुनासिका ।
 ड न ण न म—इति स्पृष्टानुनासिका ।
 इत्यमनुनासिकासत्रयोदश ॥१३॥

तदित्य प्राकृतिका निरूढा वर्णा द्वाचत्वारिंशत् ॥४२॥ एषामेव ते-
 ऽन्ये वैकारिका भवन्ति ये यौगिका ये चायोगवाहा ।

—

५ तत्र समानप्रयत्ना स्वरयौगिका यथा—

आ अ३ । ई इ३ । ऋ ऋ३ । ऊ उ३ ।—इति दीर्घप्लुतानि
 ए अय् । ऐ प्राइ । ओ अय् । औ प्राउ ।—इतिसन्ध्यक्षराणि
 इत्य सयुक्तस्वरा शुद्धनासिक्यभेदाद् द्वात्रिंशत् ॥३२॥

६ अथ सोष्माणो व्यञ्जनयौगिका यथा—

० ं ढ ष् ०—इति दु स्पृष्टमहाप्राणी ।
 घ ङ ढ ध भ—इति घोपिमहाप्राणा ।
 ख छ ठ थ फ—इति श्वासिमहाप्राणा ।

इत्य स्पर्शा सोष्माणो द्वादश ॥१२॥ तेनैते यौगिका-
 श्रतुश्रत्वारिंशत् ॥४४॥

—

७

अथायोगवाहा.

ऋ लृ हं —इति स्वरभक्ति ।
 आ२ ई२ ऊ२ —इति रङ्ग ।
 अ अ ० —इत्यनुस्वारविसर्गो ।
 ल्ल ह्ल ० —इति औरस्योपमा ।
 २ क - २ प ? —इति जिह्वामूलोयोपध्मानीयो ।
 कु खु गु घु —इति यमा ।

इत्यमयोगवाहा एकादश ॥११॥

१. स्वरभक्तिः

८ ऋलृवर्णयोरन्तरतो रेफलकारी परित् स्वरभक्त्या नियम्येते ।

ऋलोर्मध्ये भवत्यद्धंमात्रा रेफलकारयो ।

तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे—इति याज्ञवल्क्य ॥

अस्याश्च ऋकारलृकारस्वरभक्तेश्चतुर्धोच्चारण संप्रदायभेदादवगम्यते । अकाराभास एकेषाम् । ऋषिरिति रपिवत् । इकाराभास प्राच्यानाम् । ऋषिरिति रिपिवत् । उकाराभास उदीच्यानाम् । ऋषिरिति रुपिवत् । एकाराभासो माध्यन्दिनानाम् । ऋषिरिति रेपिवत् । तदुक्त प्रतिज्ञासूत्रे—“ऋकारस्य तु सयुक्तासयुक्तस्याविशेषेण सर्वत्रैवमिति ।” ॥ “ऋकारो हृत्वियुग् युक् च संकारश्छन्दसि स्मृत ।” इति केशवी ॥ कृष्णोसि, क्रेष्णोसि । ऋत्विय, रत्विय । बलृप्त क्लेप्तमिति । एषा मते—इकारोकाराभास प्रतिषिद्ध ॥ अ इ उ ए—इत्येताश्चतस्रोऽर्धमात्रिका स्वरभक्तयो भवन्ति । तासामुच्चारणमात्रे सम्प्रदायभेदादिभेदो विशेषो आस्याता । न तु लिपी तासां विशेषो क्रियन्ते । अर्द्धमात्रिकाणांमेकमात्रिकस्वरलिपिभिरुल्लेखानवकल्पन्ते । यत्तु लृकारविवक्षमाणा लकारमकारोदयमुच्चारयन्ति तदज्ञानात् । उभयो स्वरभक्ते समानन्यायेन प्रवर्तमानतया ऋकारस्य तत्रानवकल्पत्वात् ॥

९ हं—इति रेफो लकारस्योपलक्षण, हकारस्तूष्मवर्णानाम् । तेन रलाभ्यामुष्मप्रत्यये मध्ये य स्वरसदृशो ध्वनिरुत्पद्यते सा स्वरभक्तिः ।

रलाभ्या पर उष्माणो यत्र तु स्यु स्वरोदया ।

स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥१॥

स्वरभक्तिं प्रयुञ्जानस्त्रीन् दीपान् परिवर्जयेत् ।

इकार चाप्युकारश्च अस्तदोष तथैव च ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यनारदादय ॥

पथु । वर्षम् । बहि । वल्शा ॥ अत्र रेफोष्मणोरन्तरतोऽर्द्धकारवदाभासो नैमगिक । माध्यन्दिनाना तु अत्यल्पमात्रैकारवदाभास

सप्रदायसिद्ध । अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहल सयुक्तस्योष्मश्रुकारं
रेकारसहितोच्चारणमेव तृतीयान्तस्थस्येति प्रतिज्ञासूत्रात् । अह
शल्यूर्ध्वरेफस्य सकार प्राक्चेति नवाङ्कसूत्रम् । 'विहल्शल्यूर्ध्वरेफो
संकार प्राक् समुच्चरेद्'इति केशवो । रेफो रेकारमाप्नोति शषहेषु परे
घ'इति माध्यन्दिनीया । दर्शत दरेशत वल्शा वलेशा । परे तु 'रलावृ
वर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्रेति प्रातिशास्योक्तेरल्पमात्राभ्याम्
कारलृकाराभ्या क्रमेण रेफलकारौ व्यवधीयेते इत्याहु । तेन द्विरुक्त
रेफलकारवत् तत्रोच्चारणाभास सभाव्य । अर्श । अरंश । अर्ह
अरंह ॥ वल्शा । वल्लशा—इति ।

तदित्यमकारवद्वा, ऋकारलृकारवद्वा, एकारवद्द्वोच्चारितार्द्धमात्र
स्वरभक्तिरित्युच्चारणसप्रदायभेदाद् भिन्नाया स्वरभक्तेरिदमनु
शासनत्रय द्रष्टव्यम् । स्वरोदयत्वाभावाद् वष्मशब्दे न स्वरभक्ति ।

—

२. रङ्गः

१० देवा ५ एह, महा ५ असीत्यादी आ ५—इति विशुद्धादकारात् परत
पृथगिव नासिकयोच्चार्य्यमाणी वर्णो रङ्ग । तालुमृदुस्पृष्टानुनासि
कस्य नस्य तालुमृदुस्पृष्टत्वगुणभ्रशादवंमात्रस्थानेऽर्धमात्रिको विवृ
त्यकारीऽनुनासिकोऽवशिष्यते । व्यञ्जनस्य नकारस्य पूर्वस्वरेणानु-
रङ्गनात् स्वरवदाभासो भवतोत्यस्य रङ्गशब्देन व्यपदेश । नाय
नुस्वारः । स्वरानुस्वारयोरव्यवधानोपपत्त्याऽनुस्वारेण पूर्वस्वरस्य-
ग्रस्तत्वमनुभूयते । इह तु दोषस्वरात् पृथक् तदुच्चारणात् स्वरग्रास
नास्तीति भेदोपपत्ते । तस्मादयमन्यो वर्णो रङ्ग । उक्त च—

रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीत नो ग्रसेत् पूर्वमक्षरम् ।

दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्वपमाचरेत् ॥१॥

—

३. अनुस्वारः

११ अ—इत्यत्र स्वरादूर्ध्वं नासिकयोच्चार्य्यमाणो वर्णोऽनुस्वारः । तस्यानुस्वारस्य नकारवदाभासो भवति । नकारो मृदुस्पृष्ट किन्त्वय-
मनुस्वार ईपत्स्पृष्ट इति वर्णान्तरत्वम् । श प स ह रेपु तु प्रत्ययेषु
अनुस्वारस्योच्चारणत्रैविध्यमनुभावयन्ति । तत्र तावत् नकारसदृश-
ध्वनिर्वह्वृचानाम् ।

अलाबुधोणानिर्घोषो दन्तमूल्य स्वरानुग ।

अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्यो शपसेषु च ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात् । वन्श । कन्स । दन्त्यानुनासिकत्वान्न-
काराभासमात्रं, न त्वय नकार एव । अनुस्वारस्त्विति तु शब्देन
प्रत्ययान्तरवच्छेषमहरेष्वपि अनुस्वारशब्देनैव व्यवहारो नतु मकारगुकारा-
दिवत् सज्ञान्तरमपेक्षते—इत्याह ॥

१२ अथ मकारसदृशध्वनिश्छन्दोगानाम् । तस्यानुस्वारस्य मकार इति
सज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम् ।

आपद्यते मकार रेफोष्मसु प्रत्ययेष्वनुस्वारः ।

यवलेषु परसवर्णं स्पर्शेषु चोत्तमापत्तिम् ॥१॥

इति नारदीयात् । अथवा अस्तु तावद्—

‘ अनुस्वारं रोष्मसु मकार ’

इति कात्यायनप्रातिशाख्यसूत्रैकवाक्यत्वादिहापि नारदीये मकारोऽ-
नुस्वारमित्येव निर्धारितं पाठं, अस्तु वा मकारस्थानेऽनुस्वारस्यैव
विधानं तथापि तस्यानुस्वारस्य छन्दोगसप्रदायानुरोधान्मकारसदृश-
ध्वनिरेवास्थोयते । वम्श । कम्प ॥ ओष्ठ्यानुनासिकत्वान्मकाराभा-
समात्रं न त्वय मकार एव ॥

१३ अथैतेष्वेव प्रदेशेष्वनुस्वारस्य—ङकारमदृशध्वनिरध्वर्युणाम् । तड्
रामड् रावणारिम् । सिङ्ह, वङ्श, कङ्स, । कण्ठ्यानुनासिकत्वान्

डकाराभासमात्र न त्वय डकार एव । डकारसदृशध्वनेस्तस्य गुकार इति सज्ञा क्रियते व्यवहारार्थम् ॥ अद्यत्वे तु वेदोच्चारका शब्दमेवोच्चारयन्ति, तदज्ञानात् । “कु खु गु घु यमा”—इति सूत्रेण गुकारस्यानुस्वारशब्दवत् सज्ञाशब्दतया स्वरूपपरत्वासभवात् ॥ “स्वरूप शब्दस्याशब्दसज्ञा”—इत्याचार्य्याणां सिद्धान्तात् । यमप्रकरणे सज्ञाशब्दो नानुस्वारप्रकरणे इति तु न भ्रमितव्यम् । एकत्र निर्णीतं शास्त्रार्थोऽन्यत्राप्युपकारको भवतीति न्यायेन समानशास्त्रे सज्ञाशब्दस्य सर्वप्रकरणे साम्येन व्यवहारौचित्यात् ॥ गुशब्दस्य द्विमात्रवर्णतय तदुच्चारणे नियताक्षरच्छन्दोव्याघातेन कर्मलोपप्रसङ्गाच्च ॥

“मित्र सधृसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।
रुद्रा सधृसृज्य पृथिवीं बृहज्योतिं समोधिरे ॥
दृधृह्रस्व देवि पृथिवि स्वस्तये ।
अधृह्रस , व ५ प्राभ्याम्, मा हि सी ॥”

इत्यादिष्वभीष्टच्छन्दोभङ्गदोषस्यार्थप्रतिपत्तिक्लेशदोषस्य वा गुशब्दमुच्चारयता गले पतितत्वात् । प्रकृतिसिद्धोच्चारणभ्रंविध्ये व्यवस्थापकशास्त्राणामन्यतमपक्षनिर्धारकतया चारितार्थ्यं सभवति गुस्वरूपोच्चारणाय शास्त्रानुज्ञाने तात्पर्यालाभात् तथोच्चारणस्याशास्त्रीयत्वाच्च ।
या तु—

“अनुस्वारस्य धृ मित्यादेश शषसहरेफेषु”

इति प्रतिज्ञासूत्रे इतिशब्दोल्लेखाद् गुशब्द स्वरूपपरो न सज्ञाशब्द इति बहूनामद्यतनानां वेदपाठिना प्रतिपत्तिः । सेय भ्रान्तिः । तत्रेतिशब्दस्य “कु खु गु घु यमा”—इत्येतदुक्तगुकारस्मरणार्थतय अन्यायत्वात् । यमवचनोऽयं गुकारो यादृशमुच्चारणं लक्षयति तथैवेहाप्यनुस्वारस्योच्चारणे जानीयादिति हि तदभिप्रायः ॥ वश हवीषि । कस । सिंह । त रामम् —इत्येवमादिषु अनुस्वारस्य-

नकारमकारडकारान्यतमप्रतिकृत्योच्चारण प्रकृत्या सिद्धे तत्रेय वैदिकानां
वेदभेदाद् व्यवस्था बोध्या ॥

४. विसर्गः

१४ अ — इति विसर्गं । अकार उपलक्षणा स्वरवर्णानाम् ।
स्वरादुत्तरो हकारवदाभासमानो हकारभिन्नो विक्षेपकध्वनिर्विमर्जनीय ॥
अग्नि । हकारवदाभासमानोऽप्यय विसर्गो न हकार । हकार-
स्यार्धस्पृष्टत्व सस्वरभक्तिकत्व चोपपद्यते । विसर्गस्त्वयमीपत्स्पृष्ट
स्वरभक्तिशून्य । तस्माद्वर्णान्तरम् । उक्तं च—

यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।

एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो हकार परिवर्जयेत् ॥१॥

हकार परिवर्जयेदित्यस्य स्वरभक्तिवैगिण्ट्यप्रतिषेधे तात्पर्य-
मुन्नेयम् । हकारभिन्नोऽप्यय विसर्गो नूनमूष्मशब्देन व्यपदिश्यत एव ।
तथा चाह पाणिनि —

ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।

जिह्वामूलमुष्मा च गतिरष्टविधोष्मण ॥२॥

५. औरस्योष्मा

१५ ह्र ह्र — इत्यौरस्य उष्मा । अत्र च नकार उष्मणा, रेफो यवला-
नामुपलक्षणम् ।

हकार पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च सयुतम् ।

औरस्य त विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसयुतम् ॥१॥

इति ॥ पूर्वाह्लि । वह्लि । ब्रह्मा । मह्यम् । हृद । ह्लाद ।
विह्वल ॥

६ जिह्वामूलीयोपध्मानीयो

१६ ङ क ङ ख—इति कखाभ्या प्राग् हकारसदृशध्वनिजिह्वामूलीय ।
ङ प ङ फ—इति पफाभ्या प्रागुपध्मानीय ॥ क ङ कवि । ङ क
खल । क ङ पटु । क ङ फली ॥

७. यमा

१७ अनासिक्यस्पर्शादुत्तरतो नासिक्यस्पर्शं सति मध्ये पूर्वसदृशो वर्णो-
विच्छेद जनयन्नुच्चार्यमाणो यम उच्यते । इमे स्पर्शा स्थानकरण-
स्पर्शजमानो भवन्तीति निसर्गं, किन्तु तदुत्तरे सति यमे स्पर्श-
विच्छेदजन्मा पूर्वसदृश कश्चिद्वर्णं प्रादुर्भवति स यमजनितत्वाद्
यम इत्यारयायते । इत्थं स्पर्शविच्छेदजन्य प्रतिध्वनिर्यद्यप्यवसाने
ऽन्त स्थपञ्चमपरत्वे च स भवति — रामात्-शुक्ल, अग्निरिति ।
तथापि पञ्चमपरत्वे नासिक्यतावैलक्षण्यादयमपूर्वं प्रतिध्वनि-
र्यमोनाम वर्णान्तरत्वेनेष्यते ॥ वृक्ण । पलिकनी । रुक्मम् ।
रत्नम् । आत्मा । स्वप्न । पाप्मा । द्वित्वसिद्धा आगमा वा
अपञ्चमस्पर्शा विशतियमा इत्येकदेशोयमतम् ॥ क ख ग घ इति
चत्वार एव यमा इति केचित् । तत्रैते चत्वारो द्वित्वसिद्धा वर्णा
एव यमा इत्येके । वर्णगिमा इति तु तैत्तिरोया । आत्क्नी ।
सक्यकना । यज्ञ इति वर्णगिमत्त्वात् कडौ यमौ । डकारे यमे
तन्निवन्धन जस्य कुत्वमिति यज्ञशब्दे गकारडकारजकारा
सयोग ॥ आपोच्चारणप्रचारभूयस्त्वादिह यमसहितोच्चारण-
सप्रदायप्रवृत्ति । लोकमात्रप्रयुक्ते तु शब्दविशेषे तथोच्चारण-

सप्रदायो नास्ति । याच्ना । केचित्तु राज्ञ इत्यत्र जकार-अकार-
मध्यवर्त्तितो यमस्य जस्य नासिक्यत्वोपरञ्जने प्राप्ते तालुस्पृष्टो नासिक्य-
प्रयत्नविरोधान्नास्तीति कृत्वा स्थानपरिवर्ते द्रुत्या गस्वरूपत्वम् । ततो
गकारपरत्वे पूर्वस्यापि जस्योपरञ्जनाद् गत्वमित्याहुः । अकारोऽप्य
तालुस्पृष्टो नासिक्योऽस्तीति तु नाशङ्क्यम् । तस्य नामिक्यान्त स्थतये-
षत्स्पृष्टत्वात् । स्पृष्टस्तालव्यो नामिक्यो नास्तीत्यत एव तत्स्थानेऽन्त-
स्थोऽनुनासिक्य प्रातिनिध्येनोच्चार्यन्ते इति विज्ञेयम् । केचित् त्वाहु-
नैते यमा विशति । न वा चत्वारो नाप्येते वर्णा सन्ति, किन्तु—

जकारो द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थित ।

अशरीर यम विद्यात् समाज्जं मीति निदर्शनम् ॥१॥

इत्यमोघनन्दिन्याद्युक्तेर्यमस्याशरीरत्वसिद्धान्तान्तैतस्योच्चारण
शक्यम् । तथा चाह कात्यायन —

“अन्त पदेऽपञ्चमा. पञ्चमेषु विच्छेदम् ।

—रुक्क्स्मेत्यादौ रुद्वित्वे तत उत्तर पञ्चमात् प्राग् नासिक्या-
नासिक्यविरोधप्रभावान्मध्ये यतिरुत्पद्यते तदिदं विच्छेदमात्रं यमो न
वर्ण इत्यभिप्रायः । विभिन्नोच्चारणसप्रदायाधीना ह्येताश्चतस्र
प्रतिपत्तयो भवन्तीति बोध्यम् । चतुर्ष्वपि सप्रदायेषु पूर्वाक्षरे सत्येवायं
यमः स्थानं लभते नान्यथा । तस्मात् मिद्धान्तकौमुद्या भ्रन्तीति
यमोदाहरणं निघ्नन्ति विघ्नन्तीत्याद्यभिप्रायः द्रष्टव्यम् । ज्ञाने तु
यमो नास्ति । ज्ञाघातोर्गकार-पूर्वकानुनासिक्रतालव्येषत्स्पृष्टा-
रवत्त्वावगमात् । तदित्यं सप्तनवति (६७) वर्णोऽयमार्णयोऽक्षर-
समाम्नायः ।

इति प्रथमं खण्डं ॥१॥

साप्ताशीतिशतिको

द्वितीय. खण्ड । २ ।

१ मं त्रिपुनरेभ्यो निम्ब-योगिका-योगवाहेभ्योज्येऽपि
पाजिका वर्णा इष्यन्ते । तेषामपि सग्रहणे तु सप्ता
मये दन्तोभाषाम्नायवर्णा (१८७) भवन्ति । ते यथा

२	घ	घा	अ ३
	ङ	ङ	इ ३
	ऋ	ऋ	ऋ ३
	ॠ	ॠ	ॠ ३
	ॡ	ॡ	ॡ ३
	उ	ऊ	उ ३

इति ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाद् भाविस्वराश्चतुर्दश ।
दीर्घो नास्ति ।

३	ए	ए ३	॥	ऐ	ऐ ३
	ओ	ओ ३	॥	औ	औ ३

इति सन्ध्यक्षरस्वरा अष्टौ ॥ ८ ॥

४ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इ
पष्टि ॥ तेषा शुद्धस्वरत्व विवृतत्वमस्पृष्टत्व च साधर्म्यम् ।
प्लुतोऽस्तोति कृत्वा तद्भेदास्त्रयोऽधिका इह निर्दिशता ।

५ रलपूर्वा उष्मवर्णा ऋलृवर्णा च स्वरभक्तिस्थानानि ।
हर्षे । अहंः । एष रेफोष्मणोरन्तरत स्वरभक्ति । ऋलृव

“ऋलृवर्णौ रेफलकारौ सश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ”

इति (का प्रा ४ : १४६)

६ ऽ य र ल व—इतोपत्स्वृष्टान्तस्था. ईपन्नादा पञ्च । तत्रादिवर्णौ
विवृति । यथाह याज्ञवल्क्य —

द्वयोस्तु स्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते
विवृतिस्तत्र विज्ञेया यऽईशेति निदर्शनम् ॥१॥

७ अ य ड ळ व इति दुःस्पृष्टान्तस्था पञ्च ॥५॥ तत्रादिवर्णौ
सवृतोऽकार । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे सवृत प्रक्रियादशाया
तु विवृतमेव । यत्तु प्र उ ग- शब्दे यकारस्थानीयस्तद्विकारसिद्ध
सवृतोऽकार । तेनोकारे विवृते तस्य सन्धिर्नास्ति इत्याहु केचित्
तन्न । यकारस्थानीयविवृत्यैव तत्रापि सन्ध्यभावसम्भवात् । वस्तुतन्तु
यकारस्येपत्स्वृष्टस्य प्लुतिप्रतिकेपाद् वकारत्वे सजातीयाभिभावकत्वा-
दनभिव्यक्त्या लोप । तथा च न यकारस्थाने विवृत्यकार
सवृताकारो वाऽऽदिश्यते । प्रगन्दाकारन्तु सवृतो विवक्षित ।
तस्मान्न सन्धि ।

८ यवयोर्दुःस्पृष्टयो पदादौ धरहानुस्वारपूर्वत्वे च स्थानम् ।
दुःस्पृष्टयवोच्चारणे ईपत्स्वृष्टापेक्षया किञ्चिदधिकस्पर्शोपपत्त्या
स्पृष्टापेक्षया त्वल्पस्पर्शोपपत्त्या तदुभयरूपाभास ॥ उक्तं च
प्रतिज्ञासूत्रे—

“अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्सयुक्तासयुक्तस्य रेफो-
ष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेषूच्चारणे जकारो-
च्चारणं द्विभविष्येवम् ।”

इति—यकारस्य लघुप्रयत्नतरस्य सतो जकारोच्चारण ब्रुवता
यकारजकारयोर्मध्यमवृत्योच्चारणमभिप्रेयते । तथा नारदोऽप्याह—

पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च ।

अ शब्द इति विज्ञेयो योऽन्य स य इति स्मृत ॥१॥

ज इति जकारवदाभासमाह । यदु । यम । शय्या । निकाय्यम् ।
सूर्यं । वीर्यम् । आन्तर्यमित्यत्र रेफयकारसयोगयोभिन्नसस्थयोरु-
च्चारणक्रमे यो भेदो दृश्यते तत्र रेफस्य पराङ्गत्वपूर्वाङ्गत्वे, यकार-
स्येपत्स्पृष्टत्वदु स्पृष्टत्वे च हेतू भवत । रेफस्य पूर्वाङ्गत्वे सत्येव
यकारस्य दु स्पृष्टत्वसिद्धान्तात् ॥ सह्यम् बाह्यम् । ग्रहयु । शयु ।
वकारस्येह दु स्पृष्टत्वेऽनुस्वारोऽनुनासिकयकारो वा भाष्यते । येषा
त्वीपत्स्पृष्टत्व यकारस्येप्यते तेषामथ शम्भुशब्द स्मर्यन्ते । वर ।
वीर । वायवो । मव । विह्वल । शबूक ।

वकारस्य तु दु स्पृष्टस्य पदादिवत् पदमध्य सयोगादिश्च स्थानम् ।
देव , शिव , काव्यम्, भव्यम्, ॥ यम्या यद्यपीत्यादौ, विश्व विद्वानित्यादौ
च प्रथमौ यकारवकारौ गुरुप्रयत्नत्वाद् दु स्पृष्टौ भवतो द्वितीयौ तु लघु-
प्रयत्नत्वादान्तस्थौ विज्ञायेते ॥

६ पदादौ सयोगादौ च दु स्पृष्टस्य डस्य प्रतिषेध । डमर , कुड्य , वड् ।
कुड्मलादिषु सयोगादौ क्वचित्स्पृष्टदु स्पृष्टयोर्विकल्प । स्वरद्वयमध्ये
त्वस्य दु स्पृष्टस्य डस्योच्चारणस्थानम् ॥ निगड ॥

‘ छन्दसि स्वरमध्यस्थस्य डस्य ळत्व वक्तव्यम्’ । अग्निमीळे ।
माध्यन्दिनानामय नास्ति ।

१० ह श प स ह—इत्युष्माण पञ्च ईपच्छ्वासा अर्द्धस्पृष्टा । तत्रैतौ
हकारौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ नामाख्यायेते । जिह्वामूलीयकण्ठयो
प्रभवसादेभ्यात् कण्ठस्याप्येतेनैवोपसग्रह ॥ हकारोऽर्थ पञ्चस्थानो

भवति । कण्ठ्यतीत्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स जिह्वामूलीय । षुकषुख इति ॥१॥
ओष्ठ्यतीत्रस्पृष्टप्रत्ययत्वे स उपध्मानीय । षुषुषु फ इति ॥ २ ॥

जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरुच्चारणसाम्येऽपि स्थानभेदाद्वर्णभेदाभिमान ।
मुखमध्यस्थानीयाद्वर्णस्पृष्टप्रत्ययत्वे स विसर्जनीयो नामोच्यते । क
शम । क षडङ्ग । क सुत । अवमानेऽपि विसर्ग । क । उभयत्रा-
श्रयस्थानत्वाविशेषादैकवर्ण्यभिमान ॥ ३ ॥ नासिक्यान्त स्थप्रत्ययत्वे
स औरस्य । ह्र. ह्र ॥

“अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिन ” इति हि
वैशिका पश्यन्ति ।

आद् ऋकाराच्च कण्ठ्य स्यादि ऐकारात्तु तालुज ।
उ औकारात् म औष्ठ्य स्यादेकारात् कण्ठनालुज ॥ ५ ॥
ओकारात्तु स कण्ठोष्ठ्यो विसर्ग इति निर्णय ।
पूर्वस्वरस्थानभाक्त्वात् स्वरभक्तिस्तथोच्यते ॥२॥
देव सह, मति साहि सर्वे भाहि हुवत्पशु ॥
नौ सहूर्हेमते साधो सहोवदिति भाव्यताम् ॥३॥
लघुमाध्यन्दिनीयाया शिक्षाया दर्शितस्तथा ॥
विसर्गन्वरभक्तीना भेद उच्चारणक्रमे ॥४॥

अथ नासिक्यान्त स्थप्रत्ययत्वे सहकार औरस्य, ह्र ह्र ह्य ह्य ह्र
ह्र ॥ ४ ॥ अथास्पृष्टप्रत्ययत्वे म कण्ठस्थान सह सहितो हुतो हृदि ॥
नातोऽन्यत्र हकार प्रयुज्यते । तेष्वेतेषु षञ्चमु हकारेऽप्युच्चारणमर्द्धस्पृष्ट-
प्रयत्नश्च साम्येनोपपद्यते ॥

११ मुखे त्रीणि स्थानत्रयाणि—प्रथमानि मध्यमान्युत्तमानि
चेति । उर कण्ठ कर्णमूलमिति प्रथमानि । तालुमूल, मूर्द्धा दन्तमूल-
मिति मध्यमानि । सृक्का, उपध्मा ओष्ठमित्युत्तमानि ॥ तेषु प्रथमस्थान-
त्रये उत्तमस्थानत्रये चार्द्धस्पृष्टत्वेऽनभिव्यक्तभेद ह इति समानमिव रूप

सभवति । मध्यमस्थानत्रये त्वद्धंस्पृष्टत्वे हकाराद् भिन्नरूपत्वेऽपि
त्रयाणामुष्मणामत्यल्पभेद समानमिव रूप जायते शपस इति ।
तत्र मध्यमस्य मूर्धन्यवकारस्य कवर्गद्वितीयवदुच्चारण माध्यन्दिनीया
कुर्वन्ति । यथोक्त केशवीसूत्रे “ष खण्डुमृते च” इति ॥

सोऽयमज्ञाननिमित्त सप्रदायविशेषो नत्वत्र प्रयत्नदोषादिकारण
प्रतिपद्यते । उच्चारणमात्रमन्यथा क्रियते नतु लिपी व्यत्यास इति
बोध्यम् ॥

१२ स्वरभक्तिरेका, दशान्त स्या, अष्टोष्माण,—इत्येतेषां
स्वरव्यञ्जनोभयसधर्मणामेकान्न (कोन) विंशतिवर्णानामल्पस्पृष्टत्वमल्प-
विवृतत्व च साधर्म्यम् ॥

१३ ग ज ड द ब—इति घोषा सवृता ईपन्नादा स्पृष्टा पञ्च ॥५॥
क च ट त प—इत्यघोषा विवृता ईपच्छ्वासा स्पृष्टा, पञ्च ॥५॥
एषा दशव्यञ्जनवर्णाना पूर्णस्पृष्टत्वमल्पप्राणत्व निरनुनासिकत्व च
साधर्म्यम् ।

१४ ढ ळ ह—इति दु स्पृष्टौ द्वौ ॥२॥ तथा चाह कात्यायन —
“ढडौ ळलहावेकेषाम्” (का० प्राति० ४।१४४।) इति ॥ एतच्च स्वर-
मध्ये समानपदे द्रष्टव्यम् । अपाढा । अपालहा । अत्र द्वितीयो वर्णो
माध्यन्दिनाना नास्ति ॥

१५ घ ङ ढ ध भ—इति नादा सत्रारा घोषा पञ्च ॥ ५ ॥
ख छ ठ थ फ—इति श्वासा विवारा अघोषा पञ्च ॥५॥ एषा
द्वादशव्यञ्जनवर्णाना स्पृष्टत्व सोष्मत्व महाप्राणत्व च साधर्म्यम् ।

र ल ड ए न मादोनामपि सौष्मत्व सभाव्यते, किन्तु छन्दोभाषाया
तेषामनाम्नाना(या)दनादरः ॥

—

१६ अँ ईँ ऋँ लृँ ऊँ—इति नासिक्या भाविन स्वरा ह्रस्व-
दीर्घप्लुतभेदाच्चतुर्दश ॥१४॥ “लृकारस्य दीर्घत्व नास्ति” ॥ विशुद्ध-
विवृताकारस्य मूलप्रकृतितया भावित्वाभावेऽप्यनुनासिकस्य भावित्व
नापोद्(ह्)यते । ऐँ एँ ओँ औँ—इति नासिक्या सध्यक्षरस्वरा दीर्घ-
प्लुतभेदादष्टौ ॥८॥ ते चोभये प्रत्येकमुदात्तानुदात्तस्वरितभेदाद्भिन्ना इति
पट्पष्टि । (६६) तेषामनुनासिकत्वमस्पृष्टत्व विवृतत्व च साधर्म्यम् ॥

—

१७ अ—इत्यत्र स्वरादुत्तरोऽनुस्वारवर्णः ॥

याः—इति विशुद्धादीर्घस्वरादुत्तरो रङ्गवर्णः ॥

यै व लँ—इति त्रयोऽन्तस्था ॥

कुं खूं गुं धूं—इति चत्वारो यमा ॥

उ ज ए न म—इति नादा सवारा घोषा पञ्च ॥

एषा चतुर्दशाना नासिक्यत्व साधर्म्यम् । अत्र तालव्यानामल्पप्राणघोष-
स्पृष्टदु स्पृष्टेपत्स्पृष्टानामनुनासिकत्वे समानमुच्चारण भवतीत्यनुना-
सिकेपत्स्पृष्टापेक्षया पृथक्त्वेन चवर्गपञ्चमनाभिक्यस्य वर्णान्तरत्व-
व्यवस्थापन नोपपद्यते । तथापि चिरतनलोकव्यवहारानुरोधोवादिह
वर्णान्तरत्वमाख्यातमिति सन्तोष्यम् ॥

मुखमध्यस्थाना तालव्यमूर्द्धन्यदन्त्यानामनुनासिकाना मृदुतोत्रस्पृष्ट-
परत्वेऽनुस्वारवत् समानमुच्चारण भवति । “सञ्चार । सञ्जय ।
कण्ठ । काण्ड । दन्त । स्कन्द । इत्येवमेपामुच्चारणे विशेषानुपलब्धे ॥
एवमपि—अस्पृष्टेपत्स्पृष्टपरत्वे गुणगुण्यादौ विशेषोपलब्धिरस्तीति
एकारस्य वर्णान्तरत्व युक्तम् ॥ “अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीय-
यमानामयोगवाहृत्व साधर्म्यम् ॥ तदित्य छन्दोभाषाया सप्ताशीतिशत

वर्णा सिद्ध्यन्ति ॥१८७॥ येषां तु मते विशतिर्यमा इष्यन्ते तेषां
अधिक शतद्वयम् [२०३] वर्णानामुपपद्यते । तथाच सप्तनवतिर्वा,
सप्ताशीतिशत वा, अधिके द्वे शते वा वर्णा यत्र मतभेदेनाम्नायन्ते,
सैषाऽऽर्वेयो वर्णानामुक्ता पथ्यास्वस्ति प्रतिपत्तव्या ॥२॥

॥ इति द्वितीय खण्ड ॥

मातृकानुवाके

॥ अथ ब्राह्मो वर्णासाम्नायः

चातुषष्टिकस्तृतीय खण्ड ॥ ३ ॥

- १ सक्षेपतश्चतुषष्टिरेवैते वर्णाः साम्नायन्ते । तदुक्तं पाणिनिना—
त्रिषष्टिर्वा चतुषष्टिर्वर्णाः समवतो मता ।
प्राकृते सस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा ॥१॥
स्वरा विशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा स्मृता ॥२॥
अनुस्वारो विसर्गश्च पूकः पूषो चापि पराश्रयौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च ॥३॥ (इति)

२

अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	ॡ	ॡ ३

- ० ए ए ३
- ऐ ऐ ३
- ओ ओ ३
- ० औ औ ३—इति स्वरा एकविंशति ॥२१॥

—

- ३ ग ज ङ द व
क च ट त प
घ भ ढ घ भ
स छ ठ थ फ
ड ळ ण न म—इति पञ्चविंशति स्पर्शा ॥२४॥

—

- ४ य र ल व
श ष स ह—इत्यष्टौ यादय ॥६॥

—

- ५ १ क—इति जिह्वामूलीय ॥
१ प—इति उपध्मानीय ॥
अ—इत्यनुस्वार ।
अ—इति विसर्जनीय ।
कुं खं गुं घुं—इति यमा । इति अयोगवाहा अष्टौ ॥६॥

—

- ६ ङ—इति दु स्पृष्ट एक ॥१॥

—

- ७ लृकार ञ्जुत प्रयोगतो नास्तीति त्रिपष्टि । सभवतोऽस्तीति चतु पष्टि ।

—

८ कात्यायनस्तु प्रातिशाख्ये हुमिति नासिक्यमधिक मन्यमान प्राह—

त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वरा शब्दार्थचिन्तकं ॥

द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसग्रह ॥१॥

एते पञ्चषष्टिर्वर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाच ॥

यत्किञ्चिद् वाङ्मय लोके सवमत्र प्रतिष्ठितम् ॥२॥

९ स्वरमन्तरेणोच्चारयितुमशक्यत्वाद्नुस्वारविसर्गयोर्व्यञ्जनत्व-
सिद्धान्त ॥

१० उदात्तानुदात्तस्वरितानामैकभाव्यविवक्षणात् स्वरातिरेक ।
स्वरभक्ते स्वरेऽन्तर्भाव । विवृत्ते सवृताकारस्य चाकारेऽन्तर्भाव
दु स्पृष्टान्तस्थानामीपत्स्पृष्टान्तस्थंरूपसग्रह । औरस्यहकारस्य
कण्ठ्यहकारेणोपसग्रह । रङ्गस्यानुस्वारेऽन्तर्भाव ॥

११ अस्य चाक्षरममाभ्यायस्य ऋक्नुन्त्रव्याकरणे सप्रदाय श्रूयते । यथा-
“इदमक्षरच्छन्दो वर्णश समनुक्रान्तम् । ग्रह्या बृहस्पतये
प्रोवाच । बृहस्पतिरिन्द्राय । इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज
ऋषिभ्य । ऋषयो ब्राह्मणेभ्य । त खल्विममक्षरसमाभ्याय
ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा न नक्त प्रब्रूयात्” । इति ।

॥ इति तृतीय खण्ड ॥३॥

ऐकपचाशिकश्चतुर्थं खण्ड ॥४॥

अथ माहेश्वरो वर्णसिमांन्नायः

१ तत्रैकपञ्चाशद्वर्णा आम्नायन्ते ।

२

अ	इ	उ	ऋ	ॠ
०	ए	ओ	ऐ	औ
ह	य	व	र	ल
न	म	ड	ॡ	न
ऋ	भ	घ	ढ	ध
ज	व	ग	ङ	द
ख	फ	छ	ठ	थ
च	ट	त	क	प
श	ष	म	ह	०

३ अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीयोपध्मानीय-यमानामकारोपरि शर्षुं च पाठस्योपमख्यानम्—इति महाभाष्यम् । एतैरेकपञ्चाशद्वर्णैः सर्वेष्वन्ये वर्णा उपसगृहीता भवन्ति ॥

इति चतुर्थं खण्ड ॥४॥

सप्तत्रिंशिक पञ्चमखण्ड ॥५॥

होडाचक्रनाम्नी आसुरी वर्णमातृका सप्तत्रिंशद्वर्णा ।

१ असुराणां पुरात्वे बहवोऽवान्तरभेदा आसन् । तेष्वेको मयासुर-विभागो विद्याशिल्पकलावीरतासभ्यतागुणविशेषाच्छ्रेष्ठ आसीत् एष एवासुरविभाग पुरात्वे यवन इत्याख्यायते स्म ।

तस्य च वर्णमातृका होडाचक्रनाम्नी पुरायुगे सप्तत्रिंशिकाऽऽसीत् ।
सा यथा—

अ व क ह ङ

म ट प र त

न य भ ज ख

ग स द च ल—इति प्रस्तीर्या वर्णा विंशति ॥२०॥

२

अ इ उ ए ओ—इति मात्रावर्णा पञ्च ॥५॥

३

घ ङ छ

ष ण ठ

ध फ ढ

थ भ ञ—इति परिशिष्टा वर्णा द्वादश ॥१२॥

४ प्रस्तीर्येष्वकार सवृतो व्यञ्जनवत् । मात्रावर्णेषु त्वकारो विवृत
स्वर इति भेद । प्रस्तीर्याणा मात्रायोगात् प्रस्तारे स्वरिता गत
वर्णा स्युः । ते यथा—

(१)	अ व क ह ङ इ वि कि हि डि उ बु कु ङु डु ए वे के हे डे ओ बो को हो ओ	(२)	म ट प र त मि टि पि रि ति मु डु पु र तु मे टे पे रे ते मो टो पो रो तो
-----	--	-----	--

(३)	न य भ ज ख नि यि भि जि खि नु यु भु जु खु ने ये भे जे खे नो यो भो जो खो	(४)	ग म द च ल गि सि दि चि लि गु सु दु चु लु गे से दे वे ले गो सो दो चो लो
-----	---	-----	---

प्रबजद, हव्वज, हुत्ती, कलमन्—इत्येवमन्यापि काचिदबजद-
नाम्नी वर्णमातृकाऽऽसीत् । तस्या आर्यैरपरिग्रहादिह त्याग ॥३॥

इति पञ्चम खण्ड ॥५॥

वर्णनिर्देशादिपरिशिष्टत्रिवार षष्ठ खण्ड ॥६॥

अवयवपरिच्छेदो मात्रा । ध्वनिपरिच्छेदाना वर्णत्वमिति वर्णात्मि-
का परिच्छित्तिर्मात्रिका भवति । उच्चारणसामान्यान्मातृका । अपि वा
जनन्या मातृशब्द प्रसिद्ध । जनयित्री हीय वर्णमान्ना तत्तद्देशभाषाणा-
मिति मातृकाख्यायते ।

भाषाया प्रथमतः प्रवृत्ताया कालेन तत्र वाक्यानि, वाक्ये च पदानि,
पदे च वर्णा विभज्य परिगृहीता अभवन् । तत्र तत्तद्वर्णादिपदविशेषेण
तत्तद्वर्णसंज्ञा प्रथमयुगे प्रवृत्ताऽऽसीद् । यथा “रेफ” इत्यधमवचनेन
पदेन रस्य मञ्जाऽक्रियतेति प्रथम कल्प ॥१॥

तत इति शब्दो वर्णसंज्ञाकरण प्रवृत्तोऽभूदिति कात्यायनादय प्राहु ।
यथा—“निर्देश इतिना”—(१।३६) इति । एत्यकारस्य । विति वका-
रस्य । डिति डकारस्य । ईतीकारस्य । सोऽय द्वितीय कल्प ॥२॥

तत कारशब्दो वर्णसज्ञाकरण समपद्यत । “कारेण च । अथ—
 वहितेन व्यञ्जनस्य” १।३६। इति कात्यायनोक्ते । अकार ककार इत्यादि ।
 सोऽयं तृतीय कल्प सप्रति प्रचरति । “र एफेनच” इति सूत्रयन्तस्तु ते
 रकार रेफशब्देनापि व्यपदेश्युमिच्छन्ति । पदेषु वर्णव्याकरणस्य
 सर्वत पूर्व रेफशब्देनैवारम्भणात् । तत्स्मरणार्थं रवर्णाभिज्ञानस्य माङ्ग-
 लिकस्य रेफशब्देनैव विवक्षितत्वात् । यत्तु—“स्वरैरपि”—(का प्रा
 १।४०।) इति कात्यायनादय प्राहु । तत् सर्वभाषासाधारणमनुशासन
 भवति । तथाहि नागरीभाषाया तावत्—क ख ग. घ. ङ—इत्यकारेण
 वर्णा निर्दिश्यन्ते । इंग्लिशभाषायाम्—ए वि सि डि इत्यादिष्विकारेण,
 जे के—इत्येकारेण वर्णानां सज्ञा क्रियते ॥ पृष्ठतोऽप्ययमेकार क्वचिन्निर्दि-
 श्यते । एफ् एल् एम् एन् एस् एक्ष—इति । आकारोऽपि क्वचिद्
 यथा—आर—इति ॥ पारस्थानभाषायामेकारो यथा—वे पे ते
 टे से—इत्यादि । अलिफ-शब्दस्तु—“अलिपि इत्यस्यापत्र शमात्रम् ।
 जीम् मीम् स्वाद सीन—इत्यादयस्तु सस्कृतररेफशब्दवत् प्राचीन-
 सप्रदायसिद्धा पदाभिज्ञानोपपन्ना वर्णसज्ञा द्रष्टव्या । ते च शब्दा रेफव-
 न्माङ्गलिका इति भाव्यम् ॥

इति षष्ठ खण्ड ॥६॥

इति मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे
 मानुकापरिष्कार प्रथम प्रपाठ समाप्त ॥१॥

यमानुवाके विच्छेदप्रतिपत्ति आगमप्रतिपत्तिश्च ॥२॥

ऋथ यमपरिष्कारो

द्वितीय प्रपाठक

अथात प्रागुक्तो यम पुनरिह वैशद्येन चिन्त्यते । शुद्धजित्-सोष्म-
जितौ द्वौ, शुद्धधिसोष्मयो द्वाविति चत्वारो यमा । ते च कु खु गु
घु गव्दं सज्ञायन्ते । यमस्वरूपे चतुर्धा विप्रतिपद्यन्ते ।

१ एकस्मिन् वर्णो पूर्वाक्षरपराक्षयार्युगपद्वलसप्रमक्तौ बल-
द्वयविप्रतिपेधाद् वर्णो द्विरच्यते । तत्र द्वितीयम्यानुनामिकपरत्वे नासि-
क्यत्वमतस्तत्र यमशब्द । पूर्वस्य निरनुनामिकतयाऽनुनासिकस्यैतस्य
प्रयत्नान्तरग्रहणार्थं मध्ये ऋश्चिद्विच्छेदनाभात् । विच्छेदयमयोरैका-
थ्यात् ॥ प्रयत्नान्तरत्व तु पूर्वस्पृष्टविलक्षण सवृतत्वम् । तथा चाह
मण्डूक —

वर्णानां तु प्रयोगेषु करणं स्याच्चतुर्विधम् ।

सवृतं विवृतं चैव स्पृष्टमस्पृष्टमेव च ॥१॥

स्पर्शानां करणं स्पृष्टमन्तं स्थानामतोऽन्यथा ।

यमानां सवृतं प्राहुर्विवृतं तु स्वरौष्मणाम् ॥२॥ इति ।

अत्र षष्ठे यमो वर्णागमसंशरीरपूर्वसदृशो वर्णविशेषः ॥

स्वरात् सयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जातो द्वितीयकः ॥

तस्यैव यमसंज्ञा स्यात् षष्ठमेरन्वितो यदि ॥१॥

इति वर्णारस्नप्रदीपिकाशिक्षोक्तेः । “अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यम
पूर्वगुणः” — इत्यौद्वजिसूत्राच्च । तस्य विशतिसरयत्वेऽपि शुद्धजित्व-
सोष्मजित्व-शुद्धधित्व-सोष्मधित्वैः सग्रहणाच्चतुर्ध्वनोपहन्यते ।
इत्येका प्रतिपत्तिः ॥१॥

२ परे त्वाहुः — पदद्वयमध्ये यतिविवृतिरर्द्धमात्राकालः । दशरा-
मशरा इत्यत्र शमयोरुत्तरविप्रकर्षविशेषानुभवात् । सदा स आयाती-

त्यत्र प्रथमसद्विरतावन्योऽर्थं दाक्षरादन्योऽर्थं ।

काकाली कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा ॥

कस जघान कृष्ण कम्बलवन्त न बाधते शीतम् ॥

इत्येतेषु तत्र तत्र यतिवैशेष्यादेवैतानि प्रश्नवाक्यान्युत्तरवाक्यरूपायोपक-
ल्य ते ॥

कागदही की आस मे बठे निपट उदास

कागदही पाये बिना मिटे न मन की प्यास ॥१॥

इह भाषापद्ये पदान्तविरतित्रयभेदादथत्रयमुपपद्यते ॥

तथा च—“सक्रतु” रित्यत्र ककारपृष्ठे सा विरतिरुपपद्यते । सक्रतु ।
अथ कदाचित् सा ककारात् पुरतो विकल्प्यते । पराङ्गोऽपि ककारे
पूर्वाक्षरबलाक्रमणे न पूर्वसन्निकर्षातिशयोपपत्ते । परबलशैथिल्यात्तु-
कस्य पराङ्गत्व व्याहन्यते । तेन सक्रतुरितिवक्तव्ये सक्रतुरि-
त्युच्चार । अथ बलद्वयविप्रतिपेधे कस्य द्वित्वमिति कद्वयान्तराले सा
विरतिर्निकल्प्यते । सक्रतुरिति । नक्तमित्यादौ पदविर-
त्यभावेऽप्यक्षरद्वयान्तरालविरत्या त्रैविध्यमुपपद्यते—न-क्तम् । नक्-तम्
नक्-क्तमिति । अथानुनासिकपरत्वे तच्छायापत्या विरतेरस्या ना-
सिक्यत्व प्रसज्यते । तस्याश्च यमसज्ञा । अत्र पक्षे यम शरीरशून्यो
विच्छेदात्मा ।

जकारो द्वौ मकारश्च रेफन्तदुपरि स्थित ॥

अशरीर यम विद्यात् समज्ज्मीति निदर्शनम् ॥१॥ इति

अमोघनन्दिनीशिक्षोक्तेः ॥ “अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमेषु विच्छेदम्” (१३६)

इति प्रातिशारयसूत्र व्याचक्षारणे प्रदीपे विच्छेद इति यमसज्ञा

इत्युक्तेश्च । स्वरयोर्विच्छेदे विवृतिशब्द । व्यञ्जनयोर्विच्छेदे यमशब्द

इति व्यावहारिकसमय । हरऽणहीति विवृति । पलिक्ज्वनीति यम ।

यमस्य विच्छेदमात्रत्वेऽपि भूवव्यजनचातुर्विध्यनिवन्धन चतुष्ट्वमुप-

चर्यते । इत्यन्या प्रतिपत्ति ॥२॥

३ अन्ये त्वाहु । सयोगविभागशब्देभ्य शब्दोत्पत्तिरिति भगवान्

करणात् प्राह । इत्येते च—ककं-क. इरित-त फल-त इत्यादौ

व्यञ्जनान्तपदविरामे पदान्तव्यञ्जनोच्चारणार्थं वेगात् क्रियमाणे स्थान-
करणमयोगे मयोगजो वर्णं सद्य प्रतिमासते । अथ शैथिल्येन तत्सयो-
गोपरमे वर्णान्तरानुपत्तावपि सद्यस्तरसा तत्सयोगप्रत्याकर्षे
विभागजस्तत्र पूर्वसदृशो वर्णं प्रादुर्भवति । पदविरामवत् पदमध्येऽ-
पि सयोगादेविच्छिद्योच्चारणे मयोगजवर्णोत्तर म विभागजो वर्णं
मभवति । एष एव तु सोष्मरहवर्जं सवत्र वर्णद्वित्वहेतुर्द्रष्टव्य ।
म विभागज एवानुनासिकपरत्वे तत्प्रयत्नाकृष्टतया नामिक्यता प्राप्तो
यम उच्यते । पलिक्-नीति । मक्-न्-न्नेत्यादौ ककारादप्यग्रे थकारे
विराम इति तस्यैव विभागजत्वे यममज्ञा ॥

द्विरुक्तिं चर्जयेन्नित्यं यमेऽपि परत स्थिते ॥

सक्थना देदिश्यते नारी ककारोऽत्रैक एव हि ॥१॥ इति

वर्णरत्नप्रदीपिकाया कद्वित्वनिषेधात् ॥ “सर्वेषां व्यञ्जनानां द्विर्भावो-
भवति द्वादशवर्जम्” । ते ख छ ठ थ फा घ ङ ढ ध मा र्हौ चेति—”
गौतमसूत्रमते तु—थ-घटकस्य तस्य द्विरुक्त्विनरिति विशेष ॥
“प्रथमैद्वितीयास्नृतीयैश्चतुर्था” ॥१३६॥ इति कात्यायनप्रातिशाख्य-
सूत्रे तथोक्ते । तदित्यं विशतिर्यमा ॥३॥

॥ इत्यन्या प्रतिपत्ति ॥३॥

अपरे त्वाहुः—न विशतिर्यमा किन्तु क ख ग घ सदृशध्वनयो
नासिक्याश्चत्वार एव यमा कु खु गु घु सज्ञा । आतनच्मीत्यत्रा-
त्तनचक्मीति । समाज्मीत्यत्र समाज्-ग्मीति । आट्णोत्पत्र आट् कणोति ।
रत्नमित्यत्र रत्-कनमिति । मक्-न्नेत्यत्र मक्थ्-रनेति । विद्म इत्यत्र
विद्-ग्म इति । दध्म इत्यत्र दध्-ध्म इति । पाप्मेत्यत्र पाप्-क्मेत्यु-
च्चारणात् ॥ एतदुक्त पाणिनीयशिक्षाभाष्ये शिक्षाप्रकाशे “अन्तर्वत्कनीति
तकारयमककारनकारेकारा ॥ यञ्ज इत्यत्र जकार-पूर्ववर्ण-वर्गसख्य-
सवर्णयमगकार-अकारा इति ॥ शिक्षाभाष्यानुमत्यैतदुच्चारणमारयात्तम् ।
वस्तुतस्तु कृकार-गुकारयो कवर्ग्यतया तत्स्थानचवर्ग्यस्थानयोरानन्तर्यात्
पूर्वप्रयत्नापकर्षेण यमे प्रत्यये चवर्ग्यं कवर्ग्यत्वमापद्यते । उक्तं च भगवता
काम ४

पाणिनिना—“ओ कुभलि पदान्ते चेति” ॥ तेन ग्रातनच्च्मीतिवक्तव्ये
कुकारादातनच्च्मीति, ककारयमककारमकारा । समाज्मीत्यत्र गुकारात्
समाज्मीति, गकारयमगकारमकारा । यज्ज इत्यत्र गुकारात् यग्ज
इति । विज्ञानमित्यत्र च विग्ज्ज्ञानमिति गकारयमगकारञकारा ॥
इतीत्यमेव सर्वत्रोच्चारण सप्रदायसिद्धमवकल्पते ॥

ज्ञानमित्यत्रापि मध्ये गुकारो नियम्यते । (१) ‘ अनन्त्यान्त्यसयोगे
मध्ये यम पूर्वगुण ’—इत्यौदन्नजिसूत्रात् ॥१॥

(२) अनन्त्यान्त्यसयोगेऽनन्त्यपूर्वेऽन्त्योत्तरे व्यवधानवजिते तत्र
यमा वर्तन्ते न सशय ।” इति गौतमसूत्राच्च ॥२॥

(३) अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि ॥

तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णं पूर्ववर्णयो । इति नारदोक्तेश्च ।

(४) अपञ्चमैश्चैकपदे सयुक्त पञ्चमाक्षरम् ॥

उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वक्षरस्य हि ॥४॥

(५) पञ्चमा शपसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि सयुता ॥

यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवा ॥५॥

इतियाज्ञवल्कोक्तेश्च

(६) स्पर्शानामुत्तमै स्पर्शे सयोगाश्चेदनुक्रमात् ॥

आनुपूर्व्या यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥६॥

इति मण्डूकोक्तेश्च ॥६॥ तस्य गुकारस्य भल्त्वाज्जकारो गत्वमा-
पद्यते । तेन ज्ञानमिति गकारगुकारञकारा इति उच्चारणसप्रदायो वैदि-
कानुमोदितो लोकेऽपि प्रयुज्यते । घृवातोर्वैदिकस्य घृतादिष्ट लोकेऽपि प्रयो-
गवत् ॥ यत्तु ज्ञान विज्ञानमित्यादावेक एव गकार प्रतिभाति न तु
गुकार पृथक् प्रतीयते । अप्रतीतश्च नास्तीति शक्य वक्तुमिति कश्चिद्
ब्रूयात् । तन्न । पूर्वस्पर्शयमयो सयोगस्यायस्पिण्डतया घनबन्धात्
पार्थक्येनाप्रतीतावपि प्रकृतिसिद्धार्थस्यापलापानर्हत्वात् ।

त्रिविधो हि पिण्ड स्मर्यन्ते भगवता गौतमेन—

त्रिविध सयोगपिण्डो भवति—अयस्पिण्डो दारुपिण्डस्तथोर्णापि-
ण्डश्चेति । यमसहितमयपिण्डम् । दारुपिण्डमन्त स्थैर्युक्तम् । यमान्त स्थ-
वर्ज तूर्णापिण्डमिति ॥

अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।

“अशरीर यम विद्यादन्त स्थ पिण्डनायक ” इति

अशरीरत्व पूर्वस्पर्शशरीरान्त प्रविष्टत्वम्, अत एव च पूर्वस्पर्शय-
मयोर्मध्ये विच्छेदो नोपलभ्यते ॥ तस्मात् पार्थक्येनाप्रतीतिरिति
बोध्यम् ॥ इति प्रासङ्गिको यमविचार ॥*॥

इति मधुसूदन--विद्यःवाचस्पति--प्रणीते
पथ्यास्वस्तिग्रन्थे यमपरिष्कारो द्वितीय प्रपाठ
समाप्त ॥२॥



तृतीये गुरानुवाके सप्तमखण्डे वाक्चातुर्विध्यखण्डे प्रथमः ॥१॥

॥ अथ गुणपरिष्कारस्तृतीयः प्रपाठः ॥

धर्मादिभ्युदय सदाऽभ्युदयते धर्मस्तु साहित्यतो

विज्ञेयोऽप्यविनाकृत तदपि वा वाक्यश्च वाक्य पुन ॥

सपद्येत पदै पद पुनरिद वर्णं कृत वर्ण्यते

ते वर्णाश्च गुणं कृता इति गुणान् वर्णाहितान् ब्रूमहे ॥११

(१) येय वाग्वदति सा चतुर्विधा विज्ञायते । तथाच श्रूयते—

“चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्रह्मिणा ये मनीषिणः” ॥

“गुहा त्रोणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरोय वाचो मनुष्या वदन्ति” ॥११इति॥

वाचा परिच्छिन्नानि तावच्चत्वारि स्थानानि भवन्ति—वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्यमैन्द्र भीम चेति । स्थानभेदाद्वाचश्चतुर्विधा उपपद्यन्ते—वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता, आम्भृणी चेति । स्वायम्भुवमण्डले परमाकाशे वेकुरा वाक् ॥१॥ पारमेष्ठ्यमण्डले महासमुद्रे सुब्रह्मण्या वाक् ॥२॥ सौरमण्डले महाब्रह्मण्डे गौरिवीता वाक् ॥३॥ पार्थिवमण्डले भीमाण्डे चान्द्रमण्डलोपेते सोममयी आम्भृणी वाक् ॥४॥ ता एता वाचस्तत्तल्लोकस्थिताना मर्वेषा भावानामुपादानभूता इष्यन्ते । तत्रेयमाम्भृणी वागस्या भूमौ सर्वत्राभिव्याप्ता । तामेव वाचमिमे मनुष्या उपजीवन्ति । इतरास्तु तिस्रो वाचो गुहाया निहिता । तदुक्तमृषिणा—

वृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत् प्रैरत नामधेय दधाना ॥

यदेपा श्रेष्ठ यदरिप्रमासोत् प्रेणा तदेपा निहित गुहावि ॥इति॥

ऋक्सामयजुरात्मिका वैदिकी हीय वाक् सर्वेषामाविरेव मती गुहाया निहिता न सम्यक्तया परिज्ञायते इत्यर्थः । ता ह्येताश्चतस्रो वाचो ब्रह्मविज्ञाने सुविशद व्याख्याता द्रष्टव्या ॥१॥ अपि चान्यथा ब्रूम—

(२) वाजस्य हि प्रसवो वागिय श्रूयते । यथोक्त मैत्रायणोयश्रुती—

“वाग्धि वाजस्य प्रसव । सा वै वाक् मृष्टा चतुर्धा व्यभवत् ।
एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि । पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्या, माग्नी,
मा रथन्तरे ॥१॥ याऽन्तरिक्षे, सा वाते, मा वामदेव्ये ॥२॥ या दिवि
सा बृहति, सा स्तनयित्नी ॥३॥ अथ पशुषु ॥४॥ ततो या वागत्यरिच्यत
ता ब्राह्मणे न्यदधु । तस्माद्—ब्राह्मण उभयी वाच वदति—यश्च वेद,
यश्च न । या बृहद्रथन्तरयो —यज्ञादेन (वाज) तया गच्छति ॥ या पशुषु
तया ऋते यज्ञम् ॥

वाजस्येव प्रसव सुषुवेऽग्रे सोम राजानमोपधोऽवप्सु ॥

स विराज पथ्येतु प्रजानन् प्रजा पुष्टि वधंयमानो अस्मे ॥१॥

वाजस्येमा प्रसव शिश्रिये शिव स मोपधी समनवतु घृतेन ॥

वाजस्येद प्रसव आवभूवेमा च विना भुवनानि सर्वत ॥२॥

मंदित्रा १।११।४-५) इति ॥

अत्रेय त्रिलोकीवाग् गुहानिर्हितेव नेङ्गयते, पशुवागियमनुभूयते
इति विद्यात् ॥२॥ अपि चान्यथा ब्रूम —

(३) अमृता, दिव्या, वायव्या, ऐन्द्री चेति सा चतुर्धा वाक् ।
तत्र मन प्राणगर्भिता मत्या वागमृता । वेदा हि ऋक्सामयजूष्यमृता
वाक् । तत सर्वमिद प्रजायते, तत्र प्रतितिष्ठति, तत्र सतिष्ठते । सेय
वागाकाशो नाम । अग्निरस्या ब्रह्म । अग्निरस्या उपनिषत् । तस्मा-
दियमाग्नेयी । सेय मन्त्रे श्रूयते—

“गौरोर्मिमाय सलित्तानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ॥

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥१॥ (१।१६।४।४)

अथ दिव्या वाग्मता, मोऽथर्ववेद । तन्मयान्येर्वतानि सर्वाणि देव-
तानि भूतानि चोत्पद्यन्ते—

इय या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसशिता ॥

येनैव ससृजे घोर तेनैव शान्तिरस्तु न ॥ ॥ (१।६।३।)

इत्यथर्वसहितोक्त ॥

सेय वाक् सरस्वाक्षाम । दिक्सोमोऽस्या ब्रह्म । दिक्सोमोऽस्या
उपनिपत् । तस्मादिय सौम्या । सेयमपि श्रूयते—

‘तस्या समुद्रा अधिविखरन्ति तेन जीवन्ति, प्रदिशश्चतस्र ॥

तत क्षरत्यक्षर तद्विश्वमुपजीवति ॥२॥ (१।१६।४२)

वागक्षर प्रथमजा ऋतस्य वेदाना माताऽमृतस्य नाभि ॥

सा नो जुषारणो यज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥इति॥

अनयोर्ध्वनिर्नास्ति । तस्मान्न ते श्रोत्रेण गृह्येते । ध्वनि शब्द । ध्वन्य-
भावात् नैते वाची शब्दो भवत ।

“वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् मस्याश्च निम्ममे ।” इति मनुस्मृति-
वाक्ये शब्दपदमौपचारिक बोध्यम् । अशब्दात्मिकाया एव त्वमृताया
वेदवाच सृष्टिहेतुत्वसिद्धान्तात् ॥

श्रोत्रग्राहो ध्वनिर्द्विविध । शक्त्यभावादनर्थक प्रथम । वर्णपद-
वाक्यादिविभाजित सार्थको द्वितीय । उक्त च—

ध्वनिर्द्वर्णा पद वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ॥

यस्या सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥१॥इति

तत्रानर्थिकाया वाचो वायुब्रह्म । वायुरुपनिपत् । तस्मादिय
वायव्या । गतिविहीनापीय वाग् वाय्वारब्धा वायुप्रतिष्ठा वायु-
नैवेतस्ततो नीयते । नादश्रासादयश्च तस्या विशेषा वायुनैवोपपद्यन्ते ।
सेय सरस्वती नाम तृतीया वाक् विश्वोपजीवनी भवति । सापि
प्रथमाद्वितीयावदव्याकृतेवासीत् । अर्थनिबन्धनस्य वर्णादि-
विभागस्य तत्रादृष्टत्वात् । तस्या चेन्द्रोऽनुप्रविश्य विभक्तिभिस्तां
विविधं राकारैर्व्याकरोति तेनेयमन्दी व्याकृता वाग् भवन्ति । तथाच
श्रूयते—

“वाग् व पराच्यव्याकृताऽवदत् तद् देवा इन्द्रमधुधन्—इमां नो
धाच व्याकुरु इति । सोऽन्नवीद्-वर वृणो—मह्य चंवेय वायवे च

सह गृह्याता इति । तस्मादन्द्रवायव सह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत् । तस्यादिय व्याकृता वागुद्यते” इति । सोऽयमर्थो मन्त्रसहितायामप्याम्नायते—

“वीमत्सूना सयुज हसमाहुरपा दिव्याना स—रन्तम् ॥
अनुष्टुमननु चर्च्यमाण मन्द्र निचिञ्चु कवयो मनीषा” ॥
(१० । १२४ । ६) इति ।

एष मन्त्रोऽक्षरप्रकरणे व्याख्याम्यते । सा हीन्द्रेण व्याकृतैवेय वागु-पयुज्यते सर्वेभ्यो व्यवहारेभ्यो वंदिकेभ्यश्च लोकिकेभ्यश्च । तथा च श्रूयते मन्त्र —

“वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ॥
वाचोमा विश्वा भुवनान्यपिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी ॥१॥

इत्थ चैताश्चतुर्विधा वाचो व्याख्याता । तत्रैता पूर्वास्ति-लोऽर्थविज्ञानाननुकूलत्वाद् गुहा निहिता नेङ्गयन्ति न क्विदर्थं सकेतयन्ति ॥ अथ या पुनरिमा वाच मनुष्या ब्रुवते, यस्या वाच्य-कारककारादयो वर्णा व्याकृता सविभक्ता प्रज्ञाता दृश्यन्ते । सेय चतुर्थी व्याकृता वागेंद्री नाम प्रतिपत्तव्या । इन्द्र, प्रज्ञाप्राण । प्रज्ञानयोगात्तु वाचो विभज्यमाना वर्णा भवन्ति । अ उ इति मन-प्राणयो मञ्जे वैज्ञानिकानाम् । तत्र मन प्रज्ञानमृण प्राप्तो ध्व-निरर्ण । अपि वा प्राण च प्रज्ञान चागतो ध्वनिर्वर्ण ॥ वर्णा एवामी शर्णा इत्युच्यन्ते । प्रज्ञाप्राणयोर्नान्तरीयकतया प्रज्ञयैव प्राणस्यापि सग्रहीतु शक्यत्वात् ॥ यास्तु वाचोऽनाहतनादे(१), याश्च वाचो वाय्वग्निजलपार्थिवानाम्(२), या वा वाच पशुपक्षि-सरीसृपाणाम्(३) । या वा वाच सद्योजाताशिक्षितशिशुरोदना-दिषु ता सर्वा इन्द्रेण अव्याकृतत्वादनिरुक्ता केवलवायव्या इष्यन्ते ॥ मनुष्याणामेव तु वागर्थगर्भातस्वान्निरुक्त प्रज्ञातमुच्यते । तस्मादयमैन्द्र-वायवो ग्रहो भवति ॥४॥

(४) सेयमैन्द्री वाग्ध्यात्म चतुर्धा विधीयते । तथा च मन्त्र श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनोषिण ॥
गुहा त्रीणि नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१॥ इति
परा, पश्यन्तो, मध्यमा, वैखरी, इत्येता हि ता अर्ध्यात्म चतुर्धा
वाच ।

न सोस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते ॥
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते ॥१॥

इत्याप्तोक्तैर्बुद्धिस्था वाक् परा । मनसा ग्रन्थाक्षरानाकलयता-
मुपाशु वाक् पश्यन्तो । विनैव नादध्वनिं श्वासमात्रेण कर्णमनुच्चार्य-
माणा वाग् मध्यमा ।

नादध्वनिशालिनी दूरतोऽपि श्रोत्रग्राह्या वैखरी ॥ तासु परा-
पश्यन्तीमध्यमा प्रच्छन्ना न विशिष्यावगम्यन्ते ॥ वैखरी तु मनुष्या
श्रुवते । उक्त चाभियुक्तं —

वैखरो शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ॥
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥१॥ इति ॥४॥

(५) सेय वैखरी पुनरर्ध्यात्म चतुर्धा विधीयते तथा च श्रूयते—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनोषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१॥ इति
तमेत मन्त्र वाजसनेयश्रुतिरित्य व्याचष्टे—

“इन्द्रो ह वा ईक्षाचक्रे-‘वायुर्वेनोऽस्य यज्ञस्य भूमिष्ठभाग् । हन्तास्मि-
न्नपि त्वमिच्छा ” इति । स होवाच वायवा मास्मिन् प्रहे भजेति ।
किं तत स्यादिति । निरुक्तमेव वाग् वदेदिति । निरुक्त चेद् वाग् वदेत्
आ त्वा भजामिति । तत एष ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवत् ।

तदेतत् तुरीय वाचो निरुक्त यन्मनुष्या वदन्ति । अथेतत् तुरीय वाचोऽनिरुक्त यत् पशवो वदन्ति । अथेतत् तुरीय वाचोऽनिरुक्त यद्वायासि वदन्ति । अथेतत् तुरीय वाचोऽनिरुक्त यदिद क्षुद्र सरीसृप वदति ॥ इति ।

न केवलमध्यात्म, किन्तु यदधिभूत, यदधिदैवत वा वाक् तत्राप्येते चत्वारो विभागा द्रष्टव्या । परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति ॥

(६) सेय या वैखरी वाग् मनुष्येण व्याह्रियते तत्रापीय श्रुतिर्भवति

“चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनोपिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१॥ इति ।

प्राण स्वर, वर्ण, ध्वनि — इत्येव तावमनुष्यवाचश्चत्वारि पदानि । तथा हि—

आत्मा बुद्ध्या समर्थार्यान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।

सोदीर्णो मूढन्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत ।

वर्णान् जनयते तेषां विभाग पञ्चवा स्मृत ॥

इति शिक्षास्मृत्युक्तमार्गेण नाभ्युत्थितो वायु स्वरात्मतासिद्धे प्राक् प्राणो नामाभिसंधेय । अथ स एवैतन्मुखागमनात् प्राक् उर कण्ठशिरस्थान स्वर । स पुन पञ्चरूपे पञ्चाशद्रूपेश्चतु परिरूपैरपि वा व्याक्रियमाणो वर्ण । स पुन पङ्कजर्पभगान्धारमध्यमपञ्चमर्षवतनिपादाख्यैः सप्तभि स्वरैर्विभेदित श्रुत्या गृहीतो ध्वनिर्नाम जायते । तत्र प्राणोऽयमेकस्तरमात्रा वाक् । अथान्यवाक्स्तरयोगाद् द्विस्तरा स्वरवाक् । तत्रान्यवाक्स्तरयोगात् त्रिस्तरा वर्णवाक् । तत्र पुनरन्यवाक्स्तरयोगाच्चतुस्तरा ध्वनिवाक् । नानपेक्ष्य पूर्वामुत्तरारूप घत्ते ॥

अत्राहा शङ्करी भाष्यकार । क पुनरय ध्वनिर्नाम । यो दूरादाक-

रांयंतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति । प्रत्यासीदतश्च मन्दत्वपदुत्वादिभेद वर्णेष्व्वासञ्जयति । तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषान् वर्णस्वरूपनिबन्धनाः । वर्णानां प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ॥१॥

अथैते वर्णा ध्वनिसहकारेण च कृतरूपा भवन्ति ध्वनिमन्तरेण च । यौ तावत् कर्णो प्रत्यासीदन्तौ रहस्यमुपजल्पतस्तयोर्भाषायां वर्णा उपाशुक्रतत्वाद् ध्वनिविनाकृता अपि लक्ष्यन्ते । उच्चं कृतायामेव ध्वने सचारात् ॥२॥

अथ यदाहुः —“प्रकारो वै सर्वा वाक् । सैषा स्पर्शोष्मभिव्यंज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति”(ऐ वा) तत्रैव स्पर्शोष्मयोगप्रतियोगिनी वाक् स्वरो नाम । एष एव स्वरो लघुत्वगुरुत्वाभ्यां द्वेषा प्रतिपद्यमानोऽक्षरो नाम कथ्यते ॥३॥

अथ य पुनरेते शाब्दिका स्फोट प्रतिपद्यन्ते स प्राणो वर्णानां मूलाधारो द्रष्टव्यः । तदवच्छेदादिभेदं वर्णां परस्परतो नोपसृज्यन्ते ॥४॥

अथ पुनर्देवताभिश्चैतां वाचो विभक्ता द्रष्टव्याः । ध्वनिरयमग्नीषोमीया वागाग्नेयी गायत्रीछन्दा इष्यते । वर्णात्मिका तु वाग् वायव्या अनुष्टुप्छन्दा भवति । “वाचमष्टापदीमहमिति श्रुते” ब्रह्म वै गायत्री वागनुष्टुप् इति श्रुतेश्च”-॥अष्टौ हि बिन्दवस्तस्या व्याप्तिस्थानमित्यनुष्टुप्त्वमुपपद्यते । या पुनः स्वरवाक् तामैन्द्री वृहतीछन्दसमाहुः । “वागिन्द्र” इति हि श्रुतिरेतामेवैन्द्री वाचमभिप्रैति । इयमेवेन्द्रपत्नीति श्रूयते । तस्या नव बिन्दवो व्याप्तिस्थानमिति वृहतीछन्दस्त्वमाहुः ॥ प्राणस्त्वय स्फोटोऽव्ययभक्तिर्वाक् । स हि कोशः सर्वासां वाचामिष्यते । तदित्यभेदात् चतुष्टयी वाक् सहितोपचर्यते । तस्यास्तुरीयमेव पदमेतं ध्वनिमद्वा शृण्वन्ति ॥

अथैषा चतुष्टयी वाक् पुनरन्यथा चातुर्विध्यं भजते । तद्यथा वर्णं, अक्षरं, पदं, वाक्यम्—इति हि मनुष्यवाचश्चत्वारो विभागा भवन्ति ।

दमेवैतस्या वाचश्चातुर्विध्यमिन्द्रेण कृत व्याकरणमास्त्रायते ।
त्र वाक्यानि पद, पदान्यक्षरं, अक्षराणि वर्णं कृतत्पाणि
भवन्तीत्यतस्तानि वर्णाक्षरपदानि त्रीण्यन्तरत प्रवेगक्रमाद्
पुहानिहितानि न स्वातन्त्र्येण शाब्दबोध जनयन्ति । वाक्यस्यैवार्थबोधने
नामथ्यलाभान् । तस्मादर्थं प्रत्याययितुं वाक्यानि मनुष्या ब्रुवते ॥६॥

(७) अथ वर्णोऽक्षर, पद, वाक्यमित्येतेषामपि चतुर्णां
प्रत्येकस्य पुनश्चातुर्विध्यमिच्छन्ति । तत्र तावद्वर्णाश्चतुर्धा—अस्पृष्ट,
ईपत्स्पृष्ट, स्पृष्ट, अद्वंस्पृष्ट इति भेदात् ॥१॥ अक्षर चतुर्धा
पूर्वापरोभयविधव्यापारशून्य प्रथमम्—अ इति ॥ पृष्ठव्यापार-
विशिष्ट, पुरतो व्यापारशून्य द्वितीयम्—स्म इति ॥ पृष्ठव्यापार-
शून्य, पुरतो व्यापारविशिष्ट तृतीयम्—उक्—इति ॥ उभयतो
व्यापारविशिष्टं चतुर्थम्—वागिति ॥२॥

अथ पद चतुर्धा नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदादिति भगवान्
पतञ्जलि ॥ परे त्वाहु । नोपसर्गं पृथक् पदम् । उपसर्गविशिष्ट-
स्याख्यातत्वात्, तस्य तत्रैवान्तर्भावात् । येषु तु—“इन्द्रो देवान्
प्रतिप्रति ।” “अतीनि ह कर्माणि सन्ति । यान्यन्यत् कर्माणि,
तान्यतीनि” इदानीनि, एतर्हीणि ॥ इत्यादिषु विभक्तय प्रयुक्ता दृश्यन्ते
तेषां नामत्वभेदोपपद्यते ॥

तस्मान्नामाख्यातनिपातेभ्योऽतिरिक्तानां विभक्त्यर्थगभितत्वाद्
विभक्त्ययोग्यानां स्वरादिशब्दानां चतुर्थत्व द्रष्टव्यम् । नैतानि
नामानि । विभक्त्यर्थगभिततया विभक्तियोगिनामेव नामत्वेन
विवक्षितत्वात् ॥३॥ अथार्थवैशिष्ट्यात् प्रज्ञानोपपन्ना वाग् वाक्यम् ॥
तच्चतुर्धा—नाभिस्थान, प्रक्रमत्रयस्थान, मुखप्रदेशपञ्चकस्थान,
श्रोत्रस्थान चेति ॥ प्रज्ञानप्रेरिता सती नाभेरारभ्य परश्रोत्रमागता
परस्मिं प्रज्ञान जनयतीति चतुर्षु पदेषूपस्था, विलीयते ॥ ॥

(६) वाक्यमेवेद महदुक्त्यप्रकारेण पुनश्चतुष्पदमैतरेयारण्यके श्रूयते । मितममित स्वर सत्यानृते इति । ऋग् गाथा कुम्ब्या तन्मितम् ॥१॥ यजुर्निगदो वृथा वाक् तदमितम् ॥२॥ सामायो य कश्च गेष्ण स स्वर ॥३॥ ओमिति सत्य नेत्यनृतम्” इति ॥४॥ सत्यानृतयो पृथक्त्वाभिप्रायेण पञ्चविधत्वमपीच्छन्ति ॥५॥

यत्तु यास्कनिस्त्ते—“तस्माद् ब्राह्मणा उभयी वाच वदन्ति या च मनुष्याणाम्”—(१३।१) इति वाचो द्वैविध्यमाख्यात तद्वेदभाषा-संस्कृतभाषाभेदाभिप्राय द्रष्टव्यम् । छन्दोभाषाया स्वर्गभाषात्वसिद्धान्तात् ॥

एषा च वाक्याना पदानामक्षराणा च वर्णा एवारम्भका सन्तीति सर्वमूलत्वादादौ वर्णा शिक्षयित्तव्या ॥ ते च वर्णा सप्तनवति-विधाश्छन्दोभाषाया दृश्यन्ते—इत्येतेषामेव समाम्नायस्तावत् प्रदर्शित ॥

॥ इति प्रथम खण्ड ॥

(१)

—

अथ ब्रूम । अक्षराणामकारोऽस्मीति स्मरणादकार एवैको वर्णं सर्वेषामेपा वर्णाना प्रतिपत् । अकारादेवैकस्मादक्षरादयमेतावान् वर्णसमाम्नायोऽन्यान्यगुणयोगेनोत्पद्यते । तथा चाह भगवानैतरेय -

“ यो वै ता वाच वेद यस्या एष विकार स सप्रतिवित् ॥
अकारो वै सर्वा वाक् । सैषा स्पर्शोष्मिभिव्यज्यमाना बह्वी
नानारूपा भवति ॥ (ऐ० आ० २।३।६) इति ॥

अत्र श्रुती स्पर्शोष्मशब्दौ स्थानकरणयोरन्योन्य सन्निकर्षतारतम्य विप्रकर्षतारतम्य च यथायथ लक्षयत । ते च स्थानकरणो द्विविधे वहिरङ्गे चान्तरङ्गे च । मुखप्रवेशात् प्राग्भाविनी वहिरङ्गे ।

तत्र स्थान प्रक्रमशब्देन, करणप्रयत्नस्त्वनुप्रदानशब्देनाख्यायते । मुखा-
म्यन्तरतस्तु ते अन्तरङ्गे भवत । उभयत्र प्रयत्नविशेषात् स्थान-
करणयोराकुञ्चनसप्रमारणे वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्तये भवत ॥
अथ स्पर्शोष्मशब्देन स्वरद्वयसश्लेषविश्लेषावपि लक्ष्येते । तेन स्वराणां
विश्लिष्टोच्चारणे एकमात्राकाल । सश्लिष्टोच्चारणे तु द्विमात्रस्त्रि-
मात्रो वा काल ॥

स्वराणामवयवसकोचेन घनीभावे व्यञ्जनत्वोपपत्ति । तत्रैतेपा-
मर्द्धमात्रा काल । तदित्थ पञ्चैते गुणा एकस्याकारस्यानेका-
कारतासपादकतया वर्णसमाम्नायोत्पत्तिहेतवो भवन्ति । ताने-
वैतान् पञ्चगुणानुपदर्शयितुमेत वर्णसमाम्नाय प्रक्रमस्थानतः, कालतः,
करणप्रयत्नतः अनुप्रदानप्रयत्नतश्च व्याख्यास्याम ॥

—

तत्रादौ प्रक्रमस्थानतो वर्णभेदः प्रदर्श्यते ॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्बाह्यणा ये मनोषिण ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥१६४॥४५

इति भगवान् वेदमर्हापि प्राह । तथाहि—प्राणवायुर्वाग्भावाय
प्रक्रममाणश्चत्वारि प्रक्रमपदान्यपेक्षते । नाभिम्, उर , शिर , आस्यचे ति ।
नाभिर्हि प्राणवायो प्रथम पदम् । तत प्रक्रम्य स उरसि, कण्ठे, शिरसि वा
प्रत्याहन्यमान प्रथम प्रक्रम समाप्नोति । उरसि कण्ठे वा प्रथमप्रक्रम-
पूर्तो तत प्रक्रम्य शिरसि प्रत्याहन्यमानो द्वितीय समाप्नोति । शिर-
पदात्प्रक्रम्य स मुखे स्थानेष्वहन्यमानस्तृतीय समाप्नोति । आस्यपदान्
पुनश्चतुर्थं प्रक्रमे वर्णभावेन परिणममानो मुखान्नि सरति ॥

तथा चाह भगवान् पाणिनि —

आत्मा बुद्ध्या समर्थयित्त्वं मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

मन. कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मास्तम् ॥१॥

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम् ।
 कण्ठे तु मध्यम शीर्ष्णि तार जनयति स्वरम् ॥२॥
 सोदीर्णो मूर्धन्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुत ।
 वर्णान् जनयते तेषा विभाग पञ्चधा स्मृत ॥३॥
 स्वरत कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत ।
 इति वर्णविद प्राहुर्निपुरा त निबोधत ॥४॥(इति)

तत्र नाभ्युरशिरसि त्रीणि पदानि गुहाया निहितानि नाद्धा
 प्रतीयन्ते । मुख तु वर्णानामुच्चारणायोपयुक्त भाति । (१) नाभौ
 प्राणस्य वायुभाव । (२) उरसि वायो स्वरभाव । (३) शिरसि
 स्वरस्य ध्वनिभाव । (४) अथ मुखे ध्वनेर्वर्णभाव । तेनादित-
 त्त्रिषु पदेषु वाच प्राग्रूपस्य प्राणवायोर्नास्ति वर्णत्वेनाभिव्यक्ति ।
 तुरीये त्वेव पदे वाचोऽद्वाभिव्यक्तिरिति प्रतीतिगम्योऽर्थं श्रुत्याभिधीयते।

प्रथम प्रक्रमसंस्थानानामुर , कण्ठ , शिर् इत्येव त्रैविध्यमास्यातम् ।
 तच्चेद बलतारतम्यादुपपद्यते । उच्चिचारयिषया प्रयुक्त प्राणवायु
 कनीयसा बलेन प्रक्रममाण सन्नुरसि, सप्रतिबलेन कण्ठे, भूयसा तु बलेन
 शिरसि पतन् प्रक्रम समाप्नोति । तेन यत्र शिरस्येवास्य प्रथमप्रक्रमपूर्ति-
 स्तत्र त्रीण्येव प्रक्रमपदान्युपपद्यन्ते—इत्यन्यत् । आस्याद् बाह्याना-
 ममोषा प्रक्रमस्थानाना सवनत्वमाह नारद —

उर कण्ठ शिरश्चैत्र स्थानानि त्रीणि वाङ्मये ॥
 सवनान्याहुरेतानि साम्नि चाप्यधरोत्तरे ॥१॥इति

एभिरेव त्रिभि सवनैस्त्रैस्वर्य्यमुपपद्यते । तथाहि—नाभेरभ्युत्थितो
 वायु करणभूतो यद्युरस्थाने निपत्योत्पतित क्रमेण मुखमागत्य वर्ण-
 भावे परिणमते तर्हि तस्यैव प्रक्रम प्राप्त सवनम् । तत्रैव मन्द्र स्वर
 सपद्यते । स श्रौरस्थोऽनुदात्त ॥१॥ यदि तु कण्ठे निपत्योत्पतितो मुख-
 मागत स्यात् तर्हि मध्यन्दिनसवनम् । स मध्यम स्वर । स कर्णमूलीय
 स्वरित ॥२॥ यदि वा शिरोऽन्त एवास्य प्रथम प्रक्रम स्यात्

तर्हितृतीयसवनम् ॥३॥ स तारस्वर । स शार्पण्युदात्त । प्रातर्मन्द्रया
वाचा प्रक्रमेत, मन्ध्यन्दिने मध्यमया । तृतीयसवने तारयेत्याह भगवानै-
तरेय ।

यदा वा एष प्रातरुदेति—अथ मन्द्र तपति ।

तस्मान्मन्द्रया वाचा प्रात सवने शसेत् ॥१॥

अथ यदाऽभ्येति—अथ बलीयस्तपति ।

तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यन्दिने शसेत् ॥२॥

अथ यदाऽमितरामेति—अथ बलिष्ठतम तपति ।

तस्माद् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शसेत् ॥३॥

यदि वाच ईशीत । वाग्घि शस्त्रम् । यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्यो-
त्सहेत—समापनाय, तथा प्रपद्येत । एतत् सुशस्ततममिव
भवति ॥ इति (ऐ द्रा १४ प्र ४४ क)

पाणिनिरप्याह—

प्रात पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥

मध्यन्दिने कण्ठगतेन चंवं चक्राह्वसकूजितसनिभेन ॥१॥

तार तु विद्यात् सवन तृतीय शिरोगत तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥

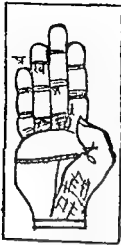
मयूरहसान्यभूतस्वराणा तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥२॥(इति)

विरुद्धसवनेनोच्चारयितृणामनुदात्तप्रायतायामुर क्षताच्छोणितोद्धार
स्वरितप्रायताया स्वरभङ्ग , उदात्तप्रायताया तु मूर्च्छापत्ति ।

अथ यथासवन यथापद च सर्वस्वरोच्चावचभावक्रमेणोच्चारण-
प्रक्रमे तदुच्चारणसौष्ठव प्रतिभाति । प्रक्रमभेदात् त्रिस्वरभेद् ।
त्रिस्वरभेदाच्चायमकारोऽन्ये च स्वरास्त्रेधा भिद्यन्ते ।

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रय । इति ॥

परे तु प्रचयमप्यधिकमिच्छन्ति—



“अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्धं न्युदात्त उदाहृत ॥
स्वरित कर्णमूलीय सर्वास्ये प्रचय. स्मृत ॥१॥
उदात्त प्रदेशिनीं विद्यात् प्रचय मध्यतोऽङ्गुलिम् ॥
कनिष्ठा निहत विद्यात् स्वरित चाप्यनामिकाम् ॥२॥

(इति पाणिन्युक्ते)

उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीना प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ॥
उपान्त्यमध्ये स्वरित धृत च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥१॥

इत्यत्र प्रचयानुल्लेखे ऽपि वाक्यान्तरतो मध्यमाया तन्निर्देशलाभात् ॥

(२) उच्चैस्तरा वा वपट्कार इत्यादिपूपदिष्टोऽयमुदात्ततरोप्यन्य
स्वर । एव (३) सन्नतरोऽप्यन्य स्वर । उदात्ततरवदनुदात्ततरस्या-
पीष्टत्वात् ॥

अत एवाह भगवान्भारद —

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचिते तथा ॥
निघातथेति विज्ञेय स्वरभेदस्तु पञ्चधा ॥१॥इति

एकश्रुतिश्चान्य स्वर ।

“एकश्रुति दूरात् सबुद्धौ” “यज्ञकर्मण्यजप न्यूङ्खसामसु”

इत्यादिषु त्रैस्वर्यापिवादेनैकश्रुतेर्विधानात् । वस्तुतस्तु नैते स्वरा-
स्त्रैस्वर्याद्भिद्यन्ते । तथाहि—उदात्तस्यैव तारतम्येनोच्चारणात् त्रै-
विध्यमुपपद्यते । उदात्ततरमुदात्त प्रचित चेति । तेन स्वरसूक्ष्मत्व-
प्रदर्शनानुरोधात् त्रैविध्योपपत्तावपि—उदात्ततरप्रचितयोरुदात्तत्व नोप-
हन्यते । तथा चाह भगवान्भारद —

य एवोदात्त इत्युक्त स एव स्वरितात् पर ॥

प्रचय प्रोच्यते तज्ज्ञैर्नचान्नान्यत् स्वरान्तरम् ॥१॥

उदात्तस्वरितयोर्मध्यवर्तितया प्रचितस्य यथोदात्तत्व केचिदिच्छन्ति ।
तथैवान्ये प्रचितस्य तस्य स्वरितेऽन्तर्भाव मन्यन्ते ।

यथोक्त याज्ञवल्क्येन—

उच्चानुदात्तयोर्गो स्वरितः स्वर उच्यते ।

ऐक्यं तत्प्रचय प्रोक्त सन्धिरेषा मिथोऽद्भुत १॥ ॥इति ।

एकश्रुतिस्तु त्रैस्वर्य्यव्यवस्थापवादो न त्रैस्वर्य्यापवाद । त्रैस्वर्य्यापि-
वादे नैकस्याप्यक्षरस्योच्चारयितुमशक्यत्वात् । तस्मात् त्रय एव स्वरा
प्रतिपत्तव्या ॥ ये तु माममन्त्रे मस्रस्वरा आख्यायन्ते—पङ्ज ऋषभ
गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निपाद इति । तेऽपि न त्रैस्वर्य्या-
दतिरिच्यन्ते ।

उदात्ते निपादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।

स्वरितप्रभवा ह्येते पङ्जमध्यमपञ्चमा ॥१॥

इति पाणिन्यादिभिर्त्रैस्वर्य्ये तदन्नभिर्निोक्ते ।

गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त पङ्जादय स्वरा ।

त एव वेदे विज्ञेयान्त्रय उच्चादय स्वरा ॥१॥

उच्चौ निपादगान्धारौ नीचानृषभधैवतौ ।

शेषास्तु स्वरिता ज्ञेया पङ्जमध्यमपञ्चमा ॥२॥

इति याज्ञवल्क्यादिभिरभेदाभ्युपगमाच्च । वस्तुतस्तदात्तादय
प्रक्रमोच्चत्वनीचत्वादिनिबन्धना भेदा इष्यन्ते । पङ्जादयस्तु स्वरा
ध्वनिरागभेदनिबन्धना इति भेद । तथा चाह नारद —

पङ्ज वदति मयूरो गावो रम्भन्ति चर्षभम् ।

श्रजाविके तु गान्धार क्रीञ्चो वदति मध्यमम् ॥१॥

पुष्पसाधारणो काले कोकिला वक्ति पञ्चमम् ।

अथस्तु घवत वक्ति निषाद वक्ति कुञ्जर ॥२॥

एषामुच्चारणोपयुक्तस्थानानि नारदशिक्षाया विशिष्य द्रष्टव्यानि ।
एषा च सप्तस्वरभेदाना गानोपयोगित्वात् साधारणोच्चारणे विभेपतो-
ऽनुपयोगादिह परित्याग । सर्वसाधारण्येन तु त्रय एव स्वरा सिद्धास्तेषा
त्रयाणा लिपिभेदाभावेऽपि अनुदात्तस्याधस्तात्तिरश्चीनरेखया (अ)
स्वरितस्योपरिष्ठात्तिरश्चीनरेखया (अ) उदात्तस्योपरिष्ठादृण्डरेखया (अ)
प्रचयस्य तु स्वरितोदात्तयोगरेखया (अ) लिप्यनुगम क्रियते, तदित्य
स्वराणा त्रैविध्यमनुभवगम्य वायुप्रक्रमभेदादुन्नेयम् ॥२॥

अ	स्व	उ	प्र
अ	अ	अ	अ

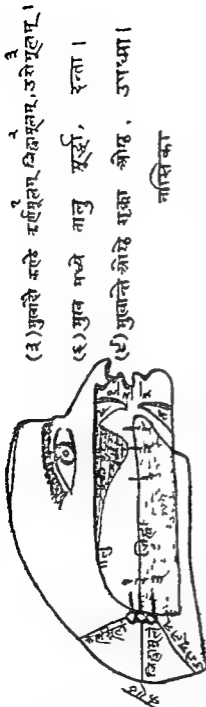
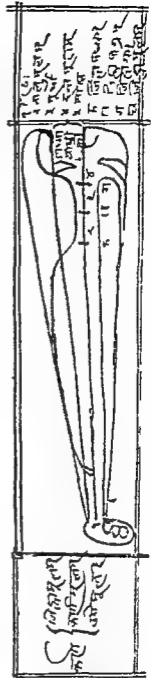
इति द्वितीय खण्ड ॥२॥

मुख्यस्थानतो वर्णभेदः ॥२॥

“सयोगविभागशब्देभ्य शब्द” — इति भगवान् कणाद प्राह ।
तत्र सयोगे य स्थायीभाव स प्रतियोगी तत्स्थानम् । य सचारीभाव
सोऽनुयोगी तत्करणम् । ते च स्थानकरणे द्विविधे बाह्ये आभ्यन्तरे च ।
वायो प्रक्रमे मुख्यागमनात् प्राग्भाविनी बाह्ये । मुखप्रदेशान्तर्गते
त्वाभ्यन्तरे । तत्र बाह्य स्थानमुर कण्ठ शिर् इति त्रिविध व्याख्यातम् ।

अथ मुखे कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठभेदान्पञ्च स्थानानि । कण्ठो जिह्वा-
मूलम् । मुखे दन्तोलूखलस्थानादभ्यन्तरतो दिशि योऽनतो भागस्तस्य
पूर्वपार्श्वं तालुमूलस्थानम् । तस्यैव पश्चिमपार्श्वं तालुन एव मूर्द्धस्थानम् ।
ततोऽत्यासन्न पश्चिमो भागो दन्तमूलस्थानम् । उत्तरोष्ठमोष्ठस्थानम् ।
एष्वेव पञ्चसु स्थानेषु क्रमेण जिह्वामम्बन्धिना मूलमयोपाग्रात्र भागाना-
मधरोष्ठसहिताना करणास्याना सयोगतारतम्यात् सर्वे वर्णा उत्पद्यन्ते ।

वायुर्यया मात्रया येन प्रक्रमेण प्रक्रान्त कण्ठस्थाने वर्णो भवन्नकारतामापद्यते, तथैव मात्रया तेनैव प्रक्रमेण प्रक्रान्तस्तालुस्थाने उप-नमित्त स इकारता-मापद्यते । मूर्द्धनि ऋकारता, दन्तमूले लृकारतामोष्ठे तूका-रतामिति विद्यात् । समानस्यैव प्राणद्रव्यस्य स्थानभेदनिवन्वना -अ इ ऋ लृ उ इति स्वरूपभेदा मम्भवन्ति । तथा चैकस्याकारस्य स्थानभेदात् पाञ्चविध्यमिदमुन्नेयम् । तत्र च प्रक्रमभेदभिन्नानामुदात्तस्वरितानुदात्तानामविशेषेण कण्ठादिस्थानसवन्धो दृश्यते । तेनैतेषा



- (३) मुखान्ते कण्ठे कर्णमूलम्, जिह्वामूलम्, उरोमूलम् ।
- (६) मुख मध्ये तालु मूर्द्धा, रता ।
- (६) मुखान्ते ओष्ठे शृङ्गा उपध्मा ।

नासिका

पञ्चैव स्थानानि सिध्यन्ति ।

केचित्तु—कृकाटिका, जिह्वामूलम्, कर्णमूलमिति मुखादौ कण्ठे त्रयोभागास्त्रीणि स्थानानि । मुखमध्ये—तालु मूर्द्धा दन्तमूलमिति त्रीणि स्थानानि । मुखान्ते पुनः—शृङ्गा उपध्मा ओष्ठ चेति त्रीणि स्थानानि ।

सक्षेपतस्तु पञ्चस्थानानोत्पेव विवक्षानुरोधान्पूनाधिकोपदेगानामवि-
रोधो द्रष्टव्य । नासिकायाश्चेतरं पञ्चभि स्थानैरविरोधान्मुखना-
सिकाम्यामुच्चरिता पञ्चान्ये स्वरा उपपदचन्ते अँ ईँ ऋँ लृँ उँ इति ।
त इमेऽनुनासिका, पञ्च स्वरा । ऋकारे लृकारे च स्वरभक्ते-
र्नासिक्यतयाऽनुनासिकत्वम् ॥३॥

॥ इति तृतीय खण्ड ॥

कालतो वर्णभेदः ॥३॥

अकारोच्चारणकालो मात्रा । “निमेषकालो मात्रा स्याद्”
इत्यौदन्नजि ।

“निमेषकालो मात्रा स्याद् विद्युत्कालेति चापरे” ।

इति नारद । तस्यास्तारतम्यादितरेषा वर्णानां मात्रा नियम्यन्ते ।
अकारोऽयमकारेण सन्धोयमान परतो योगाद् द्विमात्रो दीर्घो भवति ।
अकारोऽयमाकारेण सन्धोयमान स्वभावादाभिनिहितो भवति । अन्त-
र्विलीयमानमभिनिधान नाभिद्वयैकत्वम् ।

अधिकवले स्वल्पवलस्य विलयन निसर्ग । तेनैतस्मिन्नाकारे द्विमात्रे-
ऽकारस्य प्रत्यस्तमितत्वाद् द्विमात्रमेवावतिष्ठते न त्रिमात्रत्वम् ।

आकारो यदचकारेण सन्धीयते आकारेण वा तत्रापि नाभिद्वययोगा-
दाभिनिहितत्वमिति द्विमात्रत्वमेव, न त्रिमात्रत्व चतुर्मात्रत्व वा ।
परतो योगमन्तरेण चतुर्मात्रत्वासम्भवात् । प्रयत्नविशेषेण परतो योगा-
पेक्षाया तु त्रिमात्रत्व चतुर्मात्रत्व वा सम्भाव्यते तस्य प्लुतसज्ञा । तथा
च मात्रातारतम्यादकारस्य त्रैभाव्यमुपपद्यते । अकार स्वमात्रयो-
च्चारितो ह्रस्व । द्विगुणमात्रया दीर्घः । त्रिगुणमात्रया तदधिकमात्रया
वा वितानित स प्लुत — इति मात्रात्रैविध्यम् ।

एवमिकारादीनामपि स्वराणा मात्राभेदात् त्रैविध्यमुन्नेयम् ।
लृकारस्य तु दीर्घभावो नास्तीति तस्य दीर्घा उदात्तस्वरितानुदात्ता
हीयन्ते । तदित्य प्रक्रमभेदात् स्थानभेदान्मात्राभेदाच्चायमकारो
द्वाचत्वारिंशद्विधो विशुद्ध सम्पद्यते । तावानेव (४२) चानुनासिक इति
चतुरशीतिभेदा स्युः । ६४॥

॥ इति चतुर्थं खण्ड ॥४

आभ्यन्तरप्रयत्नतो वर्णाभेदः ॥४॥

मुखाभ्यन्तरत पञ्चसु कण्ठतालुमूर्द्धदन्तोष्ठस्थानेषु सयोगाय करणाना
य प्रयत्न स आभ्यन्तरप्रयत्नः । स द्विविधः स्पृष्टो विवृतश्च ।

येन स्थानेषु करणाना स्पर्शतारतम्य घटते स स्पृष्टः ।

- (१) अ इ ऋ लृ उ—इत्यस्पृष्टा स्वराः ।
- (२) ऽ य र ल व—इतीपत्स्पृष्टा अन्तस्थाः ।
- (३) ञ य ड ढ व—इति दुस्पृष्टा अन्तस्थाः ।
- (४) ग ज ड द व—इति मृदुस्पृष्टा स्पर्शाः ।

अथ विवरण सप्रसारणम् । येन स्थानेषु सयोगकाले करणानि
तारतम्याद्विव्रियते स विवृतः स्पर्शप्रतिद्वन्द्वी धर्मः ।

तेन विवृतप्रयत्ने स्पर्शाभावः । अतएव—अ, इ, ऋ, लृ, उ—
इति पूर्णविवृता स्वराः । अथ यावदेव स्पर्शाय प्रयत्नः क्रियते
तावदेवाय विवृतः प्रयत्नोऽपचीयते । स्पर्शतारतम्याद्विवृततारतम्य
घटते इति बोध्यम् ।

अथ सम्प्रसारितस्थानकरणानामेवामेकैकस्य यावती मात्रा भवति
सा तत्रार्धेनापचीयते । यत्र विवृताद्धप्रयत्नेनैपामाकुञ्चनः क्रियते तेनाद्ध-
मात्रिकाणि व्यञ्जनानि जायन्ते ।

यया—।ऽ य र ल व इत्यर्द्धविवृता अन्तस्था । तत्राऽय प्रथमो वर्णो विवृति । सोऽर्द्धमात्रो वर्ण । अभिनिवान सन्ध्यक्षराण्यु-
ष्मान्तस्थगतिश्चैतस्य स्थानम् । हरेऽत्र, विष्णोऽवेत्यभिनिधानस्थानम् ।
ए ओ इति सन्ध्यक्षरस्थानम् । इकाराकारयो सन्धौ यथाऽयमिकार
परयाऽद्ध मात्रया विहीयते । तेनार्द्धमात्राऽवशेषाद् यकारो व्यञ्जन भवति
तथैवाकारेकारयो मन्धौ पूर्वोऽयमकार परयार्द्धमात्रया विहीयते ।
तेनार्द्धमात्रोऽकारोऽवगिष्यते ॥ उक्तञ्च पाणिनिना—

“अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेद्” ।

इति तस्यार्द्धमात्रत्वाद् व्यञ्जनत्वम् । पूर्णस्पृष्टत्वाभावात् स्वर-
रत्वम् । तथा चोभयधर्मयोगान्त स्थत्वमुपपद्यते ॥२॥

अथ तृतीय स्थानमुष्मान्त स्थगति । तद्यथा—सद्य इह, हर
इह, विष्ण इहेति । सद्य इहेत्यत्रोष्मा हकारो विसर्गो वा
विवृत्यकारोऽर्द्धमात्रो जायते ।

ओभावश्च विवृतिश्च शपसा रेफ एव च ॥

जिह्वामूलमुपमा च गतिरष्टविधोष्मण ॥१॥

इति पाणिनिस्मरणात् । तस्य व्यञ्जनत्वात् तेन विच्छेदात्
स्वरमन्विनास्ति । एव हर इहेत्यादावन्तस्थो विवृतिमापद्यते । तस्य
स्वरद्वयमध्यस्था विच्छेद एव रूपम् । शाकल्यस्तु यवयोस्तत्र लोप
मन्यते तदसत् । वणलोपे स्वरमन्धेरनिवार्यत्वापत्ते । वैयाकरणाप-
कल्पित पूर्वत्रासिद्धे सन्ध्यभाववचनन्तु बालशिक्षीपयिक कल्पना-
मात्रम् । शास्त्रीयप्रक्रियाविशेषस्य शब्दोच्चारणविशेषाधाने सामर्थ्या-
लाभात् । शास्त्रस्य शब्दस्थितिज्ञापकत्वमुपपद्यते न तु तज्जनकत्वम् ।
अत एव लोपप्रक्रियायामसन्तुष्यन् पाणिनि लोप शाकल्यस्येत्याह ।
तथा च पाणिनिमते विवृतिवर्णदेशो यवयो स्थाने भवतीति
तद्विच्छेदात् सन्ध्यभाव स्वरसतोऽवकल्प्यते इति बोध्यम् ।

एषामन्त स्थाना मुखनामिकाभ्यामुच्चारणे यं व लां अनुनासिका स्यु ।
रेफस्तु नासिकयो नास्ति । विवृतिश्च नासिकया न दृश्यते ।
अ य ड ळ व—इतीपद्विवृता अन्तस्था । एषु प्रथमो
वर्णं सवृतोऽकार । ऐ औ इत्यनयोर्धोऽयमकारोच्चारणाभास सोऽय
सवृतोऽकार ।

“अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारोकारयोर्भवेत् ।
ऐकारोकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसवृतम् ॥१॥
सवृत मात्रिक ज्ञेय विवृत तु द्विमात्रिकम्” ।

इति पाणिनिस्मरणात् । यत्तु

स्वराणामूष्मणा चैव विवृत करण स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेडो ताभ्यामैचौ तथैव च ॥१॥

इत्येवमेकारोकारयोर्विवृततरत्वम् । ऐकारोकारयोस्तु विवृततमत्व-
मुपदिश्यते तत् सन्ध्यक्षरापेक्षम् । सवृतत्वारायान तु तत्प्रदेशापेक्षमित्य-
विरोध ।

सवृतान्त स्थाकारगभिणा सन्ध्यक्षराणां स्वरत्व व्याहन्यते इति तु
न भ्रमितव्यम् । विवृततरत्वविवृततमत्वाभ्यां स्वरत्वोपगमस्या-
वकलूप्त्वात् । म्लेच्छभाषालिपिविशेषेऽपीदमकारद्धं विध्य दृश्यते । यथा-
पारस्यलिपौ विवृताकारमलिपि (।) शब्देन, सवृताकारन्तु “अयन्” (ऌ)
शब्देनोल्लिखन्ति । “अ अ”—इति सूत्रयन् भगवान् पाणिनिश्चेद
द्वं विध्यमुपदिशति । तत्र सवृताकारस्यान्त स्थत्व प्रतिपत्तव्यम् ।

स्वराणामूष्मणा चैव विवृत करण स्मृतम् ॥

इत्येव स्वराणां विवृतत्वेनोपदिष्टत्वात् । ऐ औ इत्यादौ पृथगिवा-
कारोच्चारणप्रतिबन्धार्थं तदुच्चारणे प्रयत्नविशेषस्यापेक्षणाच्चैतस्य दु स्पृ-
ष्ट विद्यात् । ईषत्स्पृष्टपूर्णास्पृष्टयोरन्तरतो मध्यमवृत्त्या स्पर्शसिद्ध्यर्थं
प्रयत्नविशेषस्य तत्रापेक्षितत्वादिति बोध्यम् ।

ग ज ड द व—इत्यविवृता स्पर्शा । यदि त्वेते पञ्चस्पर्शा मुक्वनासिकाम्यामुच्यन्ते तर्हि स्थानद्वययोगिनस्ते ड ब ए न म इत्येव रूपाणि लभन्ते । शुद्धवन्नासिक्या अप्येते पूर्णस्पृष्टा अविवृता एव स्यु ॥३॥

इति पञ्चम. खण्ड ॥५॥

॥ बाह्यप्रयत्नतो वर्णभेद. ॥

वर्णोपादानभूतो वायुर्वर्णभावात् प्रागवस्थोऽनुप्रदान नाम । मुखायतनाद् बहिर्भूतेषु उरकण्ठशिरस्थानेषु सयोगायानुप्रदानानां य प्रयत्न सोऽनुप्रदानप्रयत्नो बाह्यप्रयत्न । स द्विविध सवारो नादो घोष इत्येव त्रिधाकृत प्रथम । विवारश्वासोऽघोष इत्येव त्रिधाकृतो द्वितीय । यत्रोच्चारणोऽनुप्रदान मृदुविग्रहत्वात् कण्ठनली न विवृणुते स सवार । खरविग्रहत्वात् ता विवृणुते चेत् स विवार ॥

अथ यत्र वर्णस्वरूपारम्भायानुप्रदाने वायोभूयसी मात्रा सनिघत्ते कनीयसी तु प्राणस्य तेजस स श्वास । प्राणस्यैव तेजसो भूयसी मात्रा कनीयसी चेद् वायो स नाद ।

यस्मिन् प्रयत्ने दृढाङ्गबन्धादुच्चरितस्य वर्णस्य प्रतिबन्धनियोग्यता कनीयसी सपद्यते सोऽघोष । श्लथङ्गबन्धात् तद्योग्यताभूयस्त्वे तु घोष । यथा सवारनादघोषाणामन्योन्यानुग्राहित्वादविनाभूतत्वं तथा विवारश्वासाघोषाणां चेति मत्यपि पटत्वेऽनुप्रदानप्रयत्नद्वैविध्यमिष्यते । तथा च सवारनादघोषाऽनुप्रदानतया ये पूव अ य र ल वा अ य ड ळ वा ग ज ड द वा ड य ए न मात्रा क्रमेण ससिद्धा । त एव च विवारश्वासाघोषानुप्रदानताया क च ट त पा इति जायन्ते । विवारश्वासाघोषाणां नासानाडीप्रतिपन्थितया कचादीनां नासिक्यत्व नास्ति । तेनैतेपा ड ब ए न मानामपि श्वासानुप्रदानत्वेनोच्चारणो विशुद्धा एव क च ट त पा उच्चार्यन्ते नानुनामिका ।

ईषन्नादा यण्जशो नादिनो ह्रस्व स्मृता ॥

ईषच्छ्वासाश्ररो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादय ॥१॥

इत्येव ब्रुवन् पाणिनिरन्त स्थाना गजडदवाना चेषन्नादत्व
क च ट त पा ना त्वीषच्छ्वासत्वमाचष्टे तत्तु सोष्मवर्णपिक्षया
न्यूनत्वाभिप्राय द्रष्टव्यम् । ग ज ड द बापेक्षया घ ऋ ढ ध भ हेष्वाधिक-
नादस्य तथा क च ट त पापेक्षया ख छ ठ थ फ श ष सेष्वाधिक-
श्वासस्यानुभवसिद्धत्वात् ॥

अथैते पूर्णस्पृष्टा क च ट त पा यद्याभ्यन्तरप्रयत्नभेदान्नेमस्पृष्टा
कृत्वोच्चाय्यन्ते तर्हि श प स हा इति ऊष्माणो जायन्ते ।

क पयोर्नेमस्पृष्टतयोच्चारणे निर्विशेष हकारोदयाच्चत्वार एवो-
ष्माणो निष्पद्यन्ते । शपमहा नासिक्या न सन्ति । विवारश्वासाघोषाणा
नासानाडीप्रतिपन्थित्वात् । “अमोऽनुनासिका न ह्री” —इति पाणिन्यु-
क्त्या नादिनो रेफहकारयो श्वासिना च सर्वेषामनुनासिकत्व-
प्रत्याख्यानाच्च । तदित्य प्रयत्नद्वयभेदाच्चनुत्विशद्वर्णा निष्पद्यन्ते ।
ततोदित पञ्च स्वरा एकोनत्रिंशद् व्यञ्जनानि ॥३॥

इति षष्ठ खण्ड ॥६॥

॥ अथ सन्ध्यक्षराणां स्थानप्रयत्नाः ॥

योगिकेषु तु वर्णेषु सवर्णद्वययोगे स्थानभेदो नास्ति । तेन ह्रस्वदीर्घ-
प्लुतानामविशेषात् सस्थानत्वम् ॥ अ आ अ ३ कण्ठ्या । इ ई इ ३
तालव्या इत्यदि ॥ विभिन्नस्थानिनोस्तु संहिताया सन्ध्यक्षरस्य
द्विस्थानत्वमनुभूयते ॥ आह च तथा—

“ए एं तु कण्ठनालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ” ॥इति

हकारस्तूष्मा द्वेषा सयुज्यते—पुग्स्ताच्चोपरिष्ठाच्च । तत्र-
पञ्चमान्त स्थाना प्रत्ययत्वे पुरस्तात् सयुक्तो हकारो निगीर्णो भवतीत्युर

स्थान भजते । ल्ल ह्ण ह्य ह्य ह्ण ह्ण ह्ण । इति ॥ कखयो प्रत्ययत्वे
हकारस्य जिह्वामूल स्थानम् । 'पफयो प्रत्ययत्वे हकारस्योपध्मान
स्थानम्, इति शाकटायनो मन्यते । अथ क च ट त पेभ्यो ग ज ड द वेभ्यो
डञ्ज ए न मेभ्यो र ल ड ळे भ्यश्चोपरिष्ठात् प्रयुक्तस्य हकारस्याश्रयस्थान-
भाक्त्व निष्पद्यते । तेन ख छ ठ थ फा क च ट त पै र्घं ऋ ढ ध भा
ग ज ड द वै सस्थाना सिध्यन्ति । तथोक्तम्—

“कण्ठ्यावहाविच्युयशास्तालव्या श्रोष्ठजावुषु ॥

स्युर्मूर्द्धन्या ऋदुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृता ॥१॥

जिह्वामूले तु कु प्रोक्तो दन्त्योष्ठयो व स्मृतो बुधं” ॥इति॥

ढस्य मूर्द्धा । ळ्हस्य द त । ड ए न माना रलयोश्च सोष्मत्व
लोकभापाया दृश्यते - साङ्हा, कान्हा, साह्यर, गेल्हा-इत्यादि ।
छन्दोभापाया चैते प्रयुक्ता न दृश्यन्ते -इत्यतस्तानुपेक्ष्य कात्यायन सोष्म-
त्वेन दशवर्णनिवोपक्षिपति । “द्वितीयचतुर्था सोष्माण ” इति ।
हकारस्यार्द्धस्पृष्टत्वेऽपि आश्रयाणा कगादीना पूर्णस्पृष्टत्वात् सोष्मणा-
मपि पूर्णस्पृष्टत्वमुन्नोयते ॥

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वोषन्नेमस्पृष्टा शल स्मृता ॥

शेषा स्पृष्टा हल प्रोक्ता निवोधानुप्रदानत ॥”॥इति

अनुप्रदाने त्वस्ति विशेष । प्रथमास्तृतीयाश्चाल्पप्राणा —क च ट
त पा, ग ज ड द वाश्चेति । द्वितीयचतुर्थास्तु महाप्राणा ।

ईषन्नादा यण्जशो नादिभो हभ्य स्मृता ॥

ईषच्छ्वानांश्वरो विद्याच्छ्वासिनस्तु खफादथ ॥१॥इत्युक्ते ॥

अस्य प्रकरणस्य लेखाचित्रद्वारा स्पष्टीकरणम्—

परात्पर

असङ्ग १ अव्यय = आनन्द

२ अक्षर = ब्रह्मा

विज्ञानम्

विष्णु

मन

इन्द्र

प्राण

अग्नि

वाक्

सोम

ससङ्ग ३ क्षर	= प्राण	= आप	वाक्	अन्नाद	अन्नम्
	आप	= वाक्	अन्नाद	अन्नम्	प्राण
	वाक्	= अन्नाद	अन्नम्	प्राण	आप
	अन्नाद	= अन्नम्	प्राण	आप	वाक्
	अन्नम्	= प्राण	आप	वाक्	अन्नाद

१ स्फोट	= महावाक्यम्	२ अक्षरम्	= अ
	वाक्यम्		इ
	अक्षरम्		ऋ
	पदम्		ऌ
	वर्ण		उ

३ वर्ण	= अ	ह	ग	क
	य	य	ज	च
	र	ड	ड	ट
	ल	ळ	द	त
	व	व	ब	प
ईषत्स्पृष्ट	दु स्पृष्ट	मृदुस्पृष्ट	खरस्पृष्ट	
घ	ख	ड	ह	
भ	छ	ज	श	
ढ	ठ	ण	ष	
ध	थ	न	स	
भ	फ	म	ह	
सोष्ममृदुस्पृष्ट	सोष्मखरस्पृष्ट	नासिक्यस्पृष्ट	अर्द्धस्पृष्ट	
	इति सप्तम खण्ड ।			

इतिमधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे गुणपरिष्कार-
स्तृतीय प्रपाठ समाप्त ॥३॥

॥ अथाक्षरनिर्देशश्चतुर्थः प्रपाठः प्रारभ्यते ॥

स्वरो वर्णोऽक्षर मात्रा तत्प्रयोगोऽर्थं एव च ॥

मन्त्र जिज्ञासमानेन वेदितव्य पदे पदे ॥१॥

वेदस्याऽध्ययनाद्धर्मं सप्रदानात् तथा श्रुते ॥

वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च ॥२॥

इति कात्यायनस्मरणाद् वर्णाक्षरज्ञानपूर्वकं वेदार्थज्ञानं ब्राह्मणानामकारणं धर्मं । तत्र वर्णज्ञानं साधितम् । अक्षरज्ञानं साधयितव्यमितीदं प्रकरणमारभ्यते ॥

ब्रह्म जानानो ब्राह्मणो भवति । ब्रह्म च त्रेधा विवर्तमानमिदं विश्वं निष्पद्यते । परमक्षरं क्षरं चेति । दिग्देशकालानवच्छिन्नमपि यत्क्षराऽक्षरयोरालम्बनतया मनोवत् परिच्छिद्यमानं भवति तन्मनोमयमव्ययं नाम रूपं परम् । तच्चीयमानं सन्मनश्च भवति प्राणश्च वाक् च । तत्रास्मिन् मनोमयेऽव्ययेऽवलम्बितं प्राणमयं क्षरमश्वालकं कूटस्थमक्षरम् । तदवलम्बितं वाङ्मयमशेषमिदं भूतजातं क्षरम् । नैतेभ्योऽतिरिच्यते किञ्चित् । त्रयोऽप्येते पुरुषा एकं पुरुषं । ऋ विशुद्धात्मा वा विश्वह्वानात्मा वा, अनेकैर्विश्वहवद्भिः कृतं स्कन्धो वा स पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । स एकैकं पुरषो मनोमयं प्राणमयो वाङ्मयं प्रतिपद्यते ।

“अथो वागेवेदं सर्वं” मित्याह वेदपुरुषः । वागाकाशः । स वायुः । तत्तेजः । ता आपः । सा पृथिवी । सेयं पृथिव्यप्सु । आपस्तेजसि । तेजो वायो । वायुराकाशे वाचि प्रतिष्ठतीत्येव वाच एवैते विकारा वाचो न व्यतिरिच्यन्ते । तस्माद् वागेवेदं सर्वं यदेतत् किञ्चित् क्वचिद् भूतजातमाकलयाम । अत एव च “वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता” —इति च भगवान् वेदमर्हपि प्राह । तानि

चैतानि सर्वाणि क्षराणि परतन्त्रत्वात् स्रज् स्यात् न शक्नुवन्तीत्येतेषा
सत्ताधायकमस्ति किञ्चिदन्तरत् स्वतन्त्र तत्त्वमक्षर नाम । स प्राण ।
तत्रानन्तगुणा उपपद्यन् इति गुणभेदादनन्तविधानपि तान् प्राणान्
स्थानपाञ्चविध्यात् पञ्चविधानाहु । त इमे पञ्चाक्षरा श्रूयन्ते
ब्रह्मेन्द्रविष्णवोऽग्निसोमी चेति । एभ्य एव तु पञ्चभ्योऽक्षरेभ्य
सर्वाणि वाङ्मयान्येतानि क्षराणि भूतजातानि जायन्ते तदाधारेण
प्रतिष्ठन्ति तत्रैव चान्ते विलीयन्ते । इति परब्रह्मविद्या भवति ॥१॥

तत्रेय वाक् त्रेधा विनियुज्यते-भूतभावेन,शब्दभावेनाथभावेन चेति ।
वाच आकाशाद् वाय्वादिक्रमेणोत्पन्नानि भूतजातानि भूतमय प्रपञ्च ।
स एको विनियोग ।१। अथ “तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि”ति नियमाद्
वाय्वादिभूतेष्वनुप्रविष्टो वागाकाश एवाघातेन कम्पित पृथग् भूत्वा
वाय्वाधारेण वर्तुलवृत्त चतुर्दिक्षु वीचीतरङ्ग जनयति । स नादात्मना
कम्पमानो धावन् श्रोत्रमागत श्रोत्रेन्द्रियप्रजया समन्वयाच्छब्द-
इत्युच्यते । स च शब्दमयप्रपञ्चार्थमयप्रपञ्चाभ्यां द्वेषा विनियुज्यते ।
तदुक्त हरिणा—

“अनादिनिघन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।

विवततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ।इति॥

उभयविधोऽयं वाङ्मयप्रपञ्च । स वाचोऽन्यो द्विविधो विनियोग ।
तत्रापि त एव प्रकारा अनुवर्तन्ते ये भूतमयप्रपञ्चे व्याख्याता ।
कनीयाश्चायं वाङ्मयप्रपञ्चो भूतमयप्रपञ्चात् । तस्य तदेकदेशत्वात् ।
तेन परब्रह्मविद्यामधिजिगासुरादौ शब्दब्रह्मविद्या परिशीलयेत् ।
अल्पायासेनाधिगता हि सा शब्दविद्या महायाससाध्याया परविद्याया
अधिगमायोपयुज्यते । तथा चाह भगवान् वेदपुरुष ।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥१॥इति॥

तत्र ब्रह्मेति विज्ञानमाहु । तद् द्विविध शाब्द पर चेति ।
विज्ञानाभिनिवेशाम्या ज्ञानसिद्धि भगवान् गौतमो मन्यते । शब्द-

श्रवणाधीनाऽर्थप्रतिपत्तिविज्ञान तच्छब्द ब्रह्म । अथ परीक्षाद्वारा साक्षाद्दर्शनाधीनाऽर्थप्रतिपत्ति. पर ब्रह्म । तत्र पूर्वेषां परीक्षकाणां द्रष्टृणां गामाप्तार्थं विषयकोपदेशवाक्यार्थश्रवणो निष्णाता यदि परीक्षार्थं प्रवर्तोरन् तर्हि तेषामभिनिवेशज्ञान साधीय स्यादित्ययमर्थं प्रथम ।

अथवेतदन्यथा व्याख्यास्याम । शब्दस्तावत् प्रकारद्वयेन ज्ञान जनयति । अभिधानेन प्रतीकत्वेन चेति । ओशब्दवाच्यं च ब्रह्म । ओमिति शब्दश्च ब्रह्म । तथा च श्रूयते—

“एतद्वै सत्यकामपरं चावरं च ब्रह्म यदोकार ॥ इति ॥”

तत्रैतदभिधानपक्षेणायमर्थो व्याख्यात । अथ खलु शब्दप्रतीकत्व-पक्षेणाप्यस्यार्थो द्रष्टव्यः । द्वे द्विव्ये भवतः । परा चैवापरा च । परब्रह्मविद्या परा । शब्दब्रह्मविद्या स्वपरा, भूयसा साम्येनो-भयो प्रवृत्तिरिति शब्दसृष्टिज्ञानेन तत्सादृश्यवशादर्थसृष्टिज्ञान-मपि मिद्धं भवति इति पश्यन्ति । यथा च परविद्यायामव्ययमक्षर-क्षरमिति त्रिविधं प्राणब्रह्म । एवमिहापरविद्यायामपि स्फोटो-ऽक्षरवर्ण इति त्रिविधं वाग्ब्रह्म । तत्र वर्णानामक्षराणां पदानां समस्तपदानां वाक्यानां चैकत्वबुद्धिप्रयोजकं स्फोटोऽव्ययमव्यय-रूपवदमीपामक्षरादीनामान्म्वनं भवति, इत्यन्यत्र व्याख्यातम् । तत्रैते नित्यमन्वाभक्ताः स्वरवर्णाः पञ्चाक्षरशब्देन व्यपदिश्यन्ते-अ इ उ ऋ लृ इति । पञ्चम्य एवैतेभ्योऽक्षरेभ्यः क्षरा मर्वे व्यञ्जन-वर्णा उत्पद्यन्ते । अक्षरोपगृहीता क्षरा अक्षरालम्बनेऽव्ययायतने प्रतितिष्ठन्ति । परतन्त्राणि क्षराणि व्यञ्जनान्यक्षरस्वरमालम्बन्ते । अक्षरतन् स्वराजातमव्यये स्फोटेऽन्वाभक्तं रूपं घत्ते । त्रितयमिद-मेकीभूतमेका वाक् ।

अथ वाक्यपदे पदमक्षरैरक्षरमपि क्षरैर्वर्णैः कृतरूपं भवतीत्यत-इदमक्षरं वा पदं वा वाक्यं वा सर्वापीय वाग्वर्णैरेवाद्वा कृतरूपाऽव-धीयते । अक्षरं तु वर्णानामात्मा भवतीति वर्णैर्म्यो भिद्यते ।

अतएव—“स्वरो वर्णोऽक्षर मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।

मन्त्र जिज्ञासमानेन वेदितव्य पदे पदे”

इत्यादिवाक्ये वर्णाक्षरयोर्भेद स्मय्यते ॥

यत्तु वर्णसमाम्नायोऽक्षरसमाम्नाय इत्यादावभेदेन व्यवहार-
दर्शनाद् वर्ण एवाक्षरमिति बालका पश्यन्ति तद् भ्रान्तम् । तयोरष्टधा
प्रभेदोपलब्धे । (१) वर्णा क्षरा, अक्षराण्यक्षरा इति पुरुषत ॥
(२) वर्णाश्चतु पष्टि । अक्षर तु गुरुलघुभेदाद् द्विविधमेवेति
सख्यात । (३) एकविन्दुवर्णः । नवविन्दु त्वक्षरमिति योनित ॥
(४) निर्व्यापारो वर्णः । पञ्चमविन्दुस्थस्याक्षरस्थ निर्व्यापरत्वे पृष्ठतो
व्यापारत्वे वा लघुत्वम् । पुरतो व्यापारत्वे गुरुत्वमिति व्यापारत ॥
(५) वर्णानामन्नत्वमक्षराणामन्नादत्वमिति वीर्य्यंत ॥ (६)
अक्षरप्रतिष्ठया प्रतिष्ठिता स्वतोऽप्रतिष्ठा एते वर्णा स्वप्रतिष्ठानि
त्वक्षराणि—इति प्रतिष्ठात ॥ (७) वर्णा अक्षरस्याङ्गानि । अक्षर
पुनरेषा वर्णानामङ्गीत्यात्मत ॥ (८) ओमिति त्रयो वर्णा एकमक्षर-
मिति प्रतिपत्तिभेदतश्च ।

तदित्यमिदमर्थद्वय सिद्ध भवति । वर्णेभ्योऽक्षरमन्योऽर्थ इत्येकम् ॥
अर्थात् च शब्दानां च त्रैधातव्यसाम्यात् परब्रह्मविद्या-शब्दब्रह्म
विद्ययोरन्योन्य सौसादृश्यमस्तीति द्वितीयम् ॥

इति प्रथम खण्ड ॥१॥

अक्षरस्य गुरुत्व-लघुत्वोपपत्त्यर्थं वर्णानामङ्गाङ्गिभावो व्याख्यायते । बृह-
त्या वाच पति बृहस्पतिरित्यादौ वाचो बृहतीत्व ब्रुवते । बृहती चैयमैन्द्र
छन्द । बृहतोसहस्रस्येन्द्रप्रियधामत्वेनैतरेयारण्यकश्रुती व्याख्यानात् ।
तस्मादियमन्त्री वाग् बृहती । बृहतीति नवभक्तिच्छन्दस सज्ञा । बृहतीत्व
चोपदिश द्विराचार्य्यैरेतस्या स्वरवर्णात्मिकाया ऐद्र्या वाचो
नवभक्तिकत्व विवक्ष्यते । तथा चैतस्या वाचोनव विन्दवो व्याप्तिस्थान-
मित्येनावानय मक्षरस्फोटो द्रष्टव्य ।

एकैक व्यञ्जनमुच्चार्यमाण यावन्त प्रदेशमवगाहते सोऽर्द्ध-
मात्राकाल । तदुपलक्षणमयमेकैको विन्दु । यद्यपि म्बर एवाक्षर-
मुच्यते, स्वरश्च केवल द्वौ विन्दू अवगाहते न तु नव विन्दून् । म्बरस्यैक-
मात्रतया, द्वाभ्यामेव चार्धमात्रविन्दुभ्यामेकमात्रत्वसम्पत्ते । तथापि
तस्य नवविन्दुकमिदमायतन क्रान्तिस्थान भवति । एतावति
प्रदेशेऽप्य स्वरो व्यञ्जनान्यात्मसात्कर्तुं क्षमते । सव्यञ्जनोऽपि स्वरोऽक्षर
भवति । तथाचैवविधस्य क्षरस्याय नवविन्दुक. स्फोट श्रायतन विज्ञायते।
तदव्ययम् ।

अयमत्राभिसन्धि । परब्रह्मणीवास्मिन् शब्दब्रह्मण्यप्यक्षरमात्मा
उक्थाऽर्काऽशितिभेदान् त्रिभक्तिर्भवति । तत्राय विन्दुद्वयावगाही
स्वर आत्मा उक्थम् । तस्यैते सप्तविन्दवोऽर्कस्थानम् । उक्थादुत्थिता
प्राणा अर्का । ते क्रान्तिमण्डले स्वे महिम्नि अशितिमाधातुमाक्रम-
माणा क्षर व्यञ्जनमात्मसात्कुवन्ति । ततोऽयमुक्थ आत्मा क्रान्तिमण्ड-
लाख्ये स्वे महिम्नि स्वेनार्कणाभिनिगृहीतान् व्यञ्जनवर्णानात्मन्विन.
करोति । तेनैतस्य म्बरमात्रस्याऽक्षरत्वेऽपि तावता क्षराणा व्यञ्जना-
नामक्षरसत्तयैव सत्तावत्वात् तावद् व्यञ्जनविशिष्टस्यास्य स्वरम्या-
क्षरत्वमुपपद्यते । यथा अ इत्येकमक्षरम् । एव य र्य्य अ्य्य, इत्येता-
न्यप्येकैकान्यक्षराणि भवन्ति । तानि उपसगंव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि
समान स्थानमवगाहन्ते । एवमुत्तरतोऽपि अ अर्, अर्क, अर्कट,
इत्येव च त्रार्यप्यक्षराणि उपधानव्यञ्जनतारतम्येऽपि छन्दसि समान
स्थान भजन्ते । तत्र व्यञ्जनाऽभावे शुद्धस्यैव म्बरम्याक्षरत्वम् ।
पृष्ठत पुरतो वा व्यञ्जनसत्त्वे तु तद्विशिष्टस्यैवाक्षर-व न तु शुद्धस्येत्या-
वेदयति भगवान् कात्यायन - 'स्वरोऽक्षर सहादर्यं व्यञ्जनसत्तरश्चाव-
सितं'—इति । स्वरो द्वेघोपपद्यते अपृक्तो व्यञ्जनसपृक्तश्च ।
“अहम्” । इत्यत्र प्रथमोऽकारोऽपृक्त । तस्य द्वे वा प्रतिपत्ति शक्या
कर्तुम् । वर्णत्वेनाक्षरत्वेन चेत्याह—'स्वरोऽक्षर' मिति । हारा-
दुत्तरम्बकारो हमाभ्या सपृक्त । तत्र व्यञ्जनविशिष्टस्य स्वरम्य

व्यञ्जनोपहितत्वेन दृष्टौ वर्णत्वमेव नाक्षरत्वमित्याह— “सहाद्य”
रित्यादि । तेन हम्, इत्येतावतो व्यञ्जनविशिष्टस्वरस्याक्षरत्व
विधीयते । “दागित्येकमक्षरम्-अक्षरमिति व्यक्षरम्” (ऐवा २१ अ
इत्यैतरेयश्रुत्या तथैव प्रतिपत्ते । कतिभिर्व्यञ्जनैरिति जिज्ञासाया
पृष्ठतस्तावदादौ रित्येकशेषादेकेन द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिर्वा व्यञ्जनै,
उत्तरतस्तूत्तरैरित्येकशेषादेकेन, द्वाभ्या त्रिभिरेव वा सपृक्तस्याक्षरत्व
नियम्यते । तत्र पृष्ठाकॅणाभिनिगृहीता अशितयश्चत्वार्युपसृष्टानि
व्यञ्जनानि । पुरतोऽकॅण त्वभिनिगृहीता अशितयस्त्रीण्युपहितानि
व्यञ्जनानि । तान्युभयान्यस्यात्मन स्वरस्याङ्गानि भवन्ति । तत्रैष
वाक् पृथ्वीरस । म्वर सूर्यरस । तथा च पृथिव्या सूर्याङ्गत्व
मिवैतस्या वाच स्वरप्राणाङ्गत्व वेदितव्यम् ॥१॥

अथाहु । अपृक्तस्य व्यञ्जनसपृक्तस्य वा स्वरस्यैतत्कात्यायनोक्त-
मक्षरत्व म्वरान्तरासन्निधाने साधूपपद्यते । किन्तु यत्रानेकंस्वरमेक
पद तत्र स्वरद्वयमध्यवर्तिना व्यञ्जनाना पूर्वाङ्गत्व वा पराङ्गत्व
वेति सशय । यथा अपक्वस्त्यानमिति पञ्चाक्षरे पदे शुद्धोऽकार ।
पयुताऽकार । कवयुताऽकार । सतययुताऽकार । नपूर्वो मोत्तर-
श्चाऽकार—इत्येव तानि पञ्चाक्षराणि भवन्ति । तत्र पकार-
ककारमकारादीना पूर्वाङ्गत्व कस्माद्भास्तीति शङ्कायामुच्यते ।
स्वरस्य पृष्ठत पुरतो वा बलतारतम्य भवतीति स्वरद्वयसत्त्वे
पूर्वस्य परस्य वा म्वरस्य बाध्यबाधकभावेनैकत्र बलोपक्षयाद्
व्यञ्जनविशेषे सक्रमणबलमेकस्य प्रतिरुध्यते । यथा कुलशब्दे
लकारस्य पराङ्गतया पूर्वाङ्गत्वाऽनुत्पत्ति । अधिकेन परबलेनाल्पस्य
प्रत्याहृतत्वाद् । तच्चेद बलतारतम्य स्वरद्वयसन्निकर्षे नियम्यते ।
तथाहि पञ्चमो विन्दुर्हृदयत्वादुकथ । तस्मिंश्च पञ्चपादा बलम् ।
अथ पष्ठे विन्दो चत्वार पादा बलम् । तदुभयविन्दुस्थे स्वरे नव
पादा बलस्योपपद्यन्ते ।

तैरेव नवपादैर्बलैरय म्वर पूर्वपरविन्दुस्थेषु व्यजनेषु विभवति । तथा
च पश्चमविन्दुस्थे तावदुक्ये पूर्ण बल भवति । अथ उक्तविन्दो पृष्ठतश्चतुर्पु

पुरतश्च सप्तमादिषु त्रिषु विन्दुषु क्रमेणाक्रमणवत् पादतो हसति
इति निसर्ग ।

अनुप्लव वाक	उपसग-व्यञ्जनानि वाक				स्वर वाक्	उपधा-व्यञ्जनानि वाक				
प्रथमाप्रादेग	१	२	३	४	५	६	७	८	९	प्राणो हृत्ती
नवविंश	०	०	०	०	०	०	०	०	०	अक्षरो हृत्ती च
	१	२	३	४	५	६	७	८		वागनुप्लव (वायु)
स्वरस्यापरा वत्तपादा	I	I	III	IIII	IIII	IIII	IIII	II	I	स्वरक्षलानि 'वाचि
<p>अर्धमात्रावच्छिन्नैर्नवभिः प्राणैरवच्छिन्न मनो वाङ्मय भवन्ति ॥१॥ मन प्राणवाङ्मयमेकमक्षरमव्ययकोशत्रयपर्याहम् ॥२॥</p>										

तेन हरि-शब्दस्य रेफे पूर्वम्ब्रवत् त्रय पादा । परस्वरवत्
तु चत्वार पादास्तेन रेफ पराङ्गम् । [कात्स्न्यम्] इत्यत्र तकारे
पूर्वम्बरवत् द्वौ पादौ, परम्बरवत् त्वेक पाद । तेन तकार पूर्वाङ्गम्
सकारे पूर्वस्वरवत्तमेक पाद । परस्वरवत् द्वौ पादौ । तेन
सकार पराङ्गम् । [ऊर्कस्व्यङ्गे] इत्यत्र, ककारे पूर्वस्वरवत् द्वौ
पादौ, पस्वरवत् तु तत्र नास्तीति ककार पूर्वाङ्गम् । सकारे तु
पदान्त्रयत्याङ्घ्रिमात्रिकया विच्छेदात् पूर्वम्बरवत् त्रय पादा ।
पम्बरवत् त्रय पादा । बलसाम्यादुभयतोऽप्यमावृष्टस्तकारो
द्विरुच्यते । तदित्य बलवैपम्ये यस्य बलाधिक्य यत्र व्यञ्जने क्रमते
तत् तस्याङ्गम् । तदेतन्निष्कृप्याह कात्यायन । “सयोगा
दि पूर्वस्य । यमश्च । क्रमज च । तस्मान्नोत्तर स्पर्श । अवसित चेत्ता”
(१।१०२।१०६) तर्क । गुल्म, । हव्यम् । पत्नी । मत्यम् ।
इत्यादिषु मध्यवर्तिनो व्यञ्जनयोरेक पूर्वाङ्ग द्वितीय पराङ्गम् । अन्तम्यो-
पमिश्राना सयुक्तानामवसिताना च व्यञ्जनानामुच्चारण द्वे वा

अञ्जसा विक्रम्य चेति । 'यथैवोपक्रमेद् वर्णास्तथैवंतान् समापये' दिति नियम्योच्चारयता पदमध्ये चलविशेषप्रयोगाभावोऽञ्जसोच्चारणम् । सत्यमिति । अत्र स्पर्शस्य तकारस्य तर्कगुल्मादचन्त स्थवन्मृदुग्रह । तत्रेद तकारस्य पूर्वाङ्गत्वमुक्तम् । अथ विक्रम्योच्चारणे तु स्पर्शे बलविशेषोदयात् पूर्वं स्वरो विक्रमते । तेन स्पर्शान्ते त्रिच्छिद्य पुनरुत्तरवर्णोच्चारणाय प्रयत्नलाभ । तत्र "सयोगविभागशब्देभ्य शब्द" इत्यौलूक्यशास्त्रात् सयोगजस्पर्शानन्तर विभागज पुनरन्य स्पर्श उदेतीति वर्णद्विरुक्तिर्भवति । तथा चैव सयोगादेर्वर्गस्य द्वित्वसिद्ध व्यञ्जन क्रमज तत्पूर्वाङ्गम् । मत्यमिति तद्वित्वे प्रथम पूर्वस्य । तयो परस्याङ्गम् । रुक्मइनि कयमौ पूर्वस्य । म परस्य । रहयोस्तु सयोगादित्वे पर स्पर्शो द्विरुच्यते । यथा पाश्चिम्यमिति रात्पर श क्रमज पूर्वस्य । शवया परस्य । वर्ष्प्यायेति रात् प पूर्वस्य । पयो परस्य । बाह्लोरिति हाद् पूर्वस्य । व परस्य । क्रमजादुत्तर व्यञ्जन स्पर्शे परे पूर्वाङ्गम् । यथा पाष्ण्या इति रषपा पूर्वस्य, णयो परस्य । वर्ष्मन् इति रषषा पूर्वस्य म परस्येति ॥

"ङ्गो कुक् दुक् शरि । नश्च । शि तुगिति पाणिनीयैः सूत्रैर्विधीयमाना कटघता पूर्वस्पर्शद्विरुक्तिरूपा एवावधीयन्ते । इणानाना ह्रस्वात्परेषा स्वरप्रत्यये द्विरुक्तिरिव स्वरभक्तिमद्वृष्मप्रत्ययत्वेऽप्युच्चारणसंप्रदायक्रमानुराधात् क्वचित् स्वरमात्रात् परेषा द्विरुक्ति प्रवर्तते । किन्तुष्मगा नामिक्यप्रतिपन्थितया नासिक्यता निवर्तत-इति प्राङ्क्षुष्ठ, सन्त्स मञ्च शम्भुरिति रूपाणि । सञ्च शम्भुरित्यत्र तु प्रतिगृह्यत्वाद्विरत्योच्चारणाच्च नासिक्यताया अनिवृत्ति । एषु सर्वत्र द्वित्वमिदस्य पूर्वाक्षराङ्गत्व नेयम् ।

वात्स्यमित्यद्वयान्तराले अ, र, त, स, 'न, या पङ्क्वर्णा । तेष्वरता पूर्वमक्षर सनया परमक्षर भजन्ते । षष्ठतो बलेन तकारे परम्य पुरतो बलेन मकारे पूर्वस्याक्रमणोऽपि विप्रतिषेधे मूलबलान् मिद्विरिति न्यायेन कृत्स्नशब्दव्यवस्थाऽनुरोधात् सामञ्जस्योपपत्ते । तवम्यमित्यत्र कमये पूर्वस्य, यमके परस्य बलप्रयोगाद् विप्रतिषेधे

मन्निकर्पातिरायान् कस्य पूर्वागत्वेऽपि मय्यो पराङ्गत्वमेव । विप्र-
निषेधे पर कार्यमिति न्यायेन पुरतो वरुणपेक्षया पृष्ठतो बलमतिशेत्
इति मध्यमकारे पराङ्गत्वमिदधे । वैदिकानां तु समये पूर्वबला-
वष्टब्धेऽपि ककारे परबल प्रमज्जत इति वनद्वयविरुद्धप्रत्याकर्षत् क-
द्वयमिद्वि तक्त्वम्यमिति । तत्रोत्तरके मप्रयत्नाक्रमगान्नामिक्यत्व-
मिति यमसजा क्रियते ॥ [विश्वप्स्व्या] प पूर्वाङ्गम् । न पराङ्गम् ।
[विष्ण्वक्पाश] इति बलमाभ्येऽपि क पूर्वाङ्ग न पराङ्गम् ।
पदान्तयत्या विच्छेदात् । तदित्य स्वनेरुत्वे बाध्यबाधकभावो
व्याख्यात ॥*॥

उक्तं पूर्वम् । अत्रुक्तं, मति व्यञ्जने व्यञ्जनमपृक्तं स्वरोऽक्षर
भवतीति । तत्र मत्त व्यञ्जनान्येकेन स्वरेण ग्रहीतुं शक्यन्ते । यथा
[म्यक्वर्ण] इति । म त र य अ र क ट — वर्णैरष्टवर्णं मत्त-
व्यञ्जनं नवविन्दुकमकारात्मकमेकमक्षरं भवति । तत्राकारो वर्णमात्र
न त्वक्षरम् । सोऽयं वर्णोऽकारं मत्तं व्यञ्जनानि चाकारात्मकस्या-
क्षरस्याङ्गानि । तदुच्चारणाधीनोच्चारणत्वात् । नातोऽधिकमस्य
स्वरस्य व्यञ्जनाभिनिग्रहणो मामर्थ्यम् । अत एव तु पृष्ठतः पञ्चम
पुरतो वा चतुर्थं यदि व्यञ्जनमुपदध्याद्—प्रवक्ष्ये तर्हि तदुच्चारणयिषा-
वशाकृष्टं कश्चिदन्यं स्वरस्तत्र प्रसज्येत । तदुच्चारणाय पूर्वस्वर-
स्यालब्धबलत्वात् । यथा [न म्यक्वर्ण] इत्यत्र नकारे तकारे च
स्वरो हठादासज्जते ॥ इति द्वितीयं खण्डम् ॥

अथातोऽस्मिन्नक्षरे दैवतानुष्ठानमास्यास्याम । निरवयवे
मनमि तावत् समात्रतो नव प्राणखण्डाः सन्निविजन्ते । प्राणमयास्ते
कोशाः । प्राणात्मकेषु च तेषु नवविन्दुषु पञ्चमो विन्दुर्नम्यत्वा-
दात्मा । इतरेऽष्टावङ्गानि । पञ्चमविन्दुस्य स्वरोऽक्षरम् । म चाय-
मैन्द्रवायवो ग्रहो वाच आत्मा । म हि प्राणो वाङ्मयत्वाद्विन्दो
नामोच्यते । अयमेव प्राण मरस्वत्यधिष्ठाता सरस्वात्नामाभिधी-
यते । यथोक्तं बृहद्देवतायाम्—

‘मरासि धृन्वन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यन त्रिषु ॥

सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाच प्राहु सरस्वतीम् ॥, इति केचिदाहु ॥

यद्यपीय सर्वा वाक् पार्थिवत्वादाग्नेयो प्रतिपद्यते । “तस्य वा एतस्याग्नेर्वागिवोपनिषत्” इति श्रुते (१० । ३ प्र. । ५ ब्रा) तथापीयमिन्द्रेण प्राणेनाविष्टितत्वात् तेनैकीभावादेन्द्री भवति । स चायमिन्द्र प्राणो द्विविध आन्तरीक्ष्यो दिव्यश्च । तत्राय द्विव्येन्द्र प्रजापण । स च वितायमाना ॥ ध्वनिरूपाया वाचि विवेचयन् स्वर व्यजन चैव सविभाजयति । अथान्तरीक्ष्यो वायुना सञ्जर्भवति । इन्द्रतुरीयो वायुरेन्द्रवायवो ग्रहो भवन्नाग्नेयीमिमा सर्वा ध्वनिवाचमध्यास्ते । गायत्रो ह्यग्नि । अग्निदेवतत्वाच्चेय वाग् गायत्री । अष्टभक्तिर्हि गायत्री । तेन स्वरमेकमनुगतानि सप्त व्यजनान्येकमक्षर वाक् । तस्या वाचोऽयमुक्थाश स्वरो नामैतेषु नव-विन्दुषु पचम षष्ठ च विन्दुमधिष्ठिति । प्राणस्त्वयमिन्द्राशो बृहती-रूपत्वान्नव विन्दूनभिव्याप्यावतिष्ठते । तथा च श्रूयते—“यावद् ब्रह्म विष्टित तावती वाक्”—इति । “यत्र ह क्व च ब्रह्म तद् वाक् । यत्र वाक् तद्वा ब्रह्म ।” इति च ॥ (ऐ आ . .) इन्द्रो ह वाचा ब्रह्म । इन्द्र आत्मा ब्रह्मैत्येकार्था । यथाय शरीर आत्मा सर्वा शरीरयष्टिमभिव्याप्यावतिष्ठते—एवमयमिन्द्रो वागात्मा नव विन्दूनभिव्याप्नोति । एतावदेवास्य वाट्मयस्येन्द्रस्य शरीर प्रतिपद्यते । तस्य शरीरस्य भागे यावन्ति व्यजनानि सम्प्रविष्टानि भवति नावतीय वाक् तस्मादिन्द्रात् परिमोयते । अष्टवर्णैर्नवविन्दु-भिश्च परिमिता ह्येकैकाक्षरा वाक् सिद्धा भवति । तमेतमर्थं भगवान् कुरुसुति वाण्वो वेदगुरुरूप प्राह—

“वाचमष्टापदोमह नवसक्तिमृतस्पृशम् ॥”

इन्द्रात् परितन्व ममे—इति ॥ ऋ० स० ८ । ७६ । १२ ।

ता आप सत्यमसृजन्त (शत० १४ का० ६ प्र० ६ ब्रा०) इति श्रुते । प्राणस्नावदिन्द्र सोऽप्सु वाक्षु द्वेषा विनियुज्यते । सत्यात्मना प्रज्ञात्मना च । तत्र प्रज्ञाप्राणेन वर्णाक्षरपदवाक्यादिविभागा भवन्ति । मानुषोऽप्येव तु वाक्षु स प्रज्ञाप्राणोऽधिकुरुते न त्वव्याकृतासु वायुतेजोजलपृथिवीना वाक्षु । सत्यप्राणस्त्वय सर्वांस्वेव वाक्ष्विशेषेणाधिकुरुते मत्येनाभिमतानामपा वाचामनात्मनया स्थातुमनर्हत्वात् । आसामेव ऋतास्थाना वाचा समुद्र सरस्वान्नाम । सेयमशरीरा विम्बी वाक् । अथ मत्यवैशिष्ट्येन तदवच्छिन्नतया मा वाक् सशरोरा सती सरस्वती ॥ अपरिच्छिन्नत्वाद् ऋत सग्वान् । परिच्छिन्नत्वात् सत्यवती सरस्वती । सोऽय सत्यप्राण एव प्रज्ञाप्राणेन विभाजितोऽक्षर भवति । स आत्मा । स स्वर । सोऽङ्गी । व्यञ्जनानि तु क्षराणि तान्याङ्गनि । एकेन विन्दुना त्वेतमात्मान वद्धयति । स पञ्चमविन्दुस्थ षष्ठ विन्दुमप्यवगाहमान सन्नेकमात्र सम्पद्यते । वोढ्याधिक्याद्ध्येक कश्चिदात्मा चाङ्गी च भूत्वा सर्वाण्यङ्गान्यधीष्टे इति हि न्यायो यजु श्रुतौ पठे काण्डे व्याख्यात । (श०६।१प्र०।१ ब्रा०।६क० तेनार्द्धमात्राणा व्यजनानामयमेकमात्र स्वरो मात्राधिक्यादात्मा भवति । आत्मत्वाच्चाय स्वरस्नेषु व्यञ्जनेषु प्रभवति । सर्वाणि व्यजनान्यात्मसात्कुरुते । तथा चैकमात्रादात्मविन्दो पृष्ठतश्चत्वारोऽर्द्धमात्राविन्दव उपमर्गस्थानानि । पुरतस्तु त्रयोर्द्धमात्राविन्दव उपधानस्थानानानीत्येवमथी विन्दवो निष्कृष्यन्ते । एतदभिप्रायेणैव श्रूयते—

“ब्रह्म वं गायत्री वागनुष्टुप्—(ऐ आ १।१४)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	श्रुती
०	०	०	०	०	०	०	०	०	प्राणा
व्य	व्य	व्य	व्य	स्वर	व्य	व्य	व्य		वाक्
I	II	III	IIII	IIII—IIII	III	II	I		अक्षरबलानि
१	२	३	४	५	६	७	८		अनुष्टुप्

“वागनुष्टुप्” — (शत १।५।२।२७) इत्याचक्षारणा वैदिकम-
हर्षयोऽक्षरस्यैतम्याष्टविन्दुत्वमभिप्रयन्ति । स्वरस्यैकस्य व्यञ्जनद्वय-
समानावगाहितया नवव्यञ्जनसनिवेगावकाशस्यैकस्वरकसप्तव्यञ्जन-
सनिवेगावकाशेन तुल्यत्वाद् बृहतीप्राणावच्छिन्नस्याक्षरस्य
वागवच्छेदेनाष्टभक्तिरुत्व सभवतीत्यक्षरात्मिकाया वाचोऽनुष्टुप्त्व-
मुपपद्यते । अष्टभक्तिरुस्य छन्दमो गायत्रीत्ववदनुष्टुप्त्वेनापि
व्यपदेशसभवात् । अथर्वकैकमक्षरमष्टभक्तिक भवतीति चतुरक्षर-
च्छन्दसो द्वात्रिंशद्भक्तिरुत्व सभवति । चतुरक्षराणि सर्वाणि च्छन्दासि
श्रूयन्ते (शत० १।५।२।२७) । चतुर्विगत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा
उष्णिगित्येव विंशत्यक्षराया द्विपदाविराज ऊर्ध्वं चतुर्भिश्चतुर्भि-
रक्षरैरनुवर्द्धितैर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुव्वृहतीपङ्क्तित्रिष्टुव्जगतीनामुपपन्नतया
छन्दोभिरुपलक्षिताया सर्वम्या वाचो द्वात्रिंशद्भक्तिकानुष्टुप्त्वमुप-
पद्यत इति बोध्यम् ।

प्रत्यक्षर नवविन्दुषु हृदयस्थस्वरस्थानतया पञ्चमपष्ठविन्दोरात्म-
त्वम् । इतरे सप्त विन्दवस्त्वात्मन क्रान्तिस्थानत्वान्महिमानो भवन्ति ।
पञ्चमपष्ठविन्दुस्थस्य स्वरस्वरूपनिरूपकस्य प्रज्ञाप्राणस्येन्द्रस्य सपरि-
प्वक्तोऽयमक्षर स्वरूप-निरूपक प्रज्ञाप्राणोऽय इन्द्र सप्तव्यञ्जनवर्णानि-
ष्टम स्वरवर्णं चाभिव्याप्नोतीति प्रतीयते । अत एव च बृहती-
च्छन्दसोऽयम्येन्द्रस्यानुष्टुप्चारित्वमप्युपपद्यते । तथाचाहुर्वेदमहर्षय -

वोभत्सूना सयुज हसमाहुरपा दिव्याना सख्ये चरन्तम् ।

अनुष्टुममनु चर्चूर्यमाणमिन्द्र निचिक्वु कययो मनोवा ॥

(ऋक् स० म० १०, सू० १२४, मन्त्र ६) ॥इति॥

त्रयस्तावदस्य मन्त्रस्यार्था भवन्ति । अधिदैवतमधिगन्द-
मधिभूत च । तत्राधिदैवतमर्थो ब्रह्मविज्ञाने सिद्धान्तवादे द्रष्टव्य ।
इहाधिशब्द व्याख्यायते । वोभत्सूना वन्धनमिच्छता निराश्रय स्थातु-
मसमर्थतया परावलम्बनमपेक्षमाणाना क्षराणा व्यञ्जनाना सयुजम्
आश्रयदानेन सहयोगिन कचिदर्थं हस ब्रुवते । स्वातन्त्र्येण स्थातुम-

शक्रुवानान् व्यञ्जनरूपान् क्षरानर्थात्प्रथमो भूत्वा य स्वस्मिन्नु-
पवध्नाति सोयमैन्द्रवायवग्रह प्रकृते हम् इति वेदितव्य ।

“ये अर्वाङ् उत वा पुराणो, वेद विद्वांसमभितो वदन्ति ।

आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे, अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हसम्”

इति मन्त्रश्रुती हसपदस्य वायुपरत्वावगमात् । प्राणो वायु-
रिति श्रुते प्राण स हसो भवति । प्राण एव त्वक्षरसज्ञ क्षरान्
व्यञ्जनवर्णानात्मनि वध्नाति । अथेहाऽऽप इति वाच प्रतिपत्तव्या ।
‘सोपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवाऽस्य साऽसृज्यत । सेव
सर्वमाप्रोद् यदिदं किञ्च तस्मादाप” इति यजु ऋते [शत० का० ६
प्र० १ ब्रा० १] तासा दिव्याना तृतीयस्यामितो दिवि पवमानाना वाचा
सत्ये समानभावेऽयं हसश्चरति । ऐन्द्रवायवेन प्राणेनेय वाग्, वाचा
चायमैन्द्रवायवप्राणोऽव्यतिरिक्त रूप घत्त इति भाव । अष्टवर्ण-
त्मिका वागनुष्टुप् । तामनु । इत्यभूताख्यानेऽयमनुशब्द कर्म-
प्रवचनीय । अनुष्टुप्छन्देनेहाष्टवर्ण-सनिवेशस्थानरूपा नव बिन्दवो
लक्ष्यन्ते । नवविन्दूनभिर्व्याप्य कृतात्मानमिहाक्षरशब्देन प्रतिपन्न
तावदिन्द्र प्रज्ञाप्राण वैज्ञानिका स्वमनीषया विचारदृष्ट्या निचिक्यु-
निर्धारयामासु । यद्यपि वागेव श्रेष्ठेण श्रूयते न प्राणस्तथाप्यक्षरतिम-
काया वाचोऽष्टवर्णविच्छिन्नतया वाचस्तावत्प्रदेशावगाहित्वासभवाद्
वाचोऽतिरिक्त वागालम्बन कचिदिन्द्र नाम प्राणं विद्वांस स्वबुद्धि-
भावनया ददृशुरित्यर्थ ॥ इत्यमिदमधिशब्द व्याख्यातम् ।

अथैतस्य भूतग्रामस्य वाङ्मयत्वादधिभूतपक्षेऽपि तुल्योऽर्थः ।
अतएव—

“अप्रक्षितं वसु विर्भाषि हस्तयोरपाढ सहस्तन्वि श्रुतो दधे ।

आवृतासोऽवतासो न कर्तुं मिस्तन्नपु ते क्रतव इन्द्र भूरय ॥

(ऋ० स० म० १ सू० ५५ मन्त्र ८१)

इति मन्त्र व्याचक्षाणाऽऽरण्यकश्रुति “सोयमाकाश प्राणो
बहृत्या विष्टब्ध ॥ तद्यथाऽयमाकाश प्राणो न बहृत्या विष्टब्ध, एव

सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाभ्य प्राणेन वृहत्या विष्ट्वानीत्वेव
विद्याद्"—(ऐ० आ० २।१।६) इत्येव शब्दाक्षरवद् भूताक्षरेष्वपि
वृहतीप्राणात्मकम्येन्द्रम्य तुल्यमभिव्याप्तिमाचष्टे । तदिदं विस्तरतो
ब्रह्मविज्ञाने व्याख्यात द्रष्टव्यम् ॥५॥

॥इति तृतीय खण्ड ॥३॥

एतच्च मध्नव्यञ्जन स्वरक्रान्तिमण्डल मति सभवे व्याख्यातम् ।
न त्वक्षरत्वप्रयोजकतया मप्ताना व्यञ्जनानामेकान्तत मद्भावोऽपेक्ष्यते ।
नवानामर्द्धमात्राविन्दूना स्वल्पमद्योग्यतालक्षणतया व्यवस्थितत्वेऽपि
फलोपधायकनालक्षणतया सर्वत्रानुपराध्वे । तथा चोपपद्यते व्यञ्जना-
त्यन्ताभावे स्वरस्यैव रेवन्मयाक्षरत्वम् । किन्तु यत्र व्यञ्जनमद्भाव-
स्तत्र तद्विशिष्टम्यैवाक्षरत्व न तु केवलस्येत्यपि प्रागुक्तं न विस्मर्तव्यम् ।
तत्रापि चैत्रेणैव व्यञ्जनेन द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भि पञ्चभि षड्भि मप्त-
भिर्वा वैशिष्ट्ये स्वरस्याक्षरत्व द्रष्टव्यम् । न वाक्, प्रागित्यादि ॥
इदं पुनरत्रावधेयमीपत्स्पृष्टार्थस्पृष्टै स्वरच्छायापन्नैरन्तस्थोष्मभिरुप-
सर्गोपधानयो सगर्भन्वे सत्येवेदं स्वरक्रान्तिमण्डल मप्तविन्दुकमुप-
पद्यते । अन्तस्थोष्मगोरप्रत्यासत्ती त्वाक्रमणवल तदपचीयते ।
[क्त्न् ट् प्] इति पृष्टतस्त्रिपु कतनेषु पुरतष्टपयोर्द्वयोरेव विन्दोराक्रमण-
वलौपपत्ते । तदित्य वर्याविशेषे क्रमगुणवतारतम्यमन्वीक्ष्यम् ।
यथा खल्वस्य क्रान्तिवल तारतम्येन घटते । एवमाभ्यन्तरस्थाना-
नामपि कण्ठादीनामभ्यन्तरप्रयत्नानां च स्पृष्टादीनामस्ति बले तार-
तम्यम् बाह्यस्थानानां बाह्यप्रयत्नानाञ्च । तेन पत्वग्त्वकुत्वचुत्वा-
दिका आभ्यन्तरस्थाननिवन्वना उदात्तस्वरितानुदात्तप्रचयादिका
बाह्यस्थाननिवन्वनाश्च व्याकरणशास्त्रोक्ता सर्वेऽपि सन्निफलविशेषा
भवन्तीति नैरुक्तानां समय । राजमु वित्मु, रामेषु, हरिषु, ह्रवोपी-
त्यादी मकारस्योत्तरस्वगङ्गन्वेऽपि पूर्वस्वरवलाक्रमणतारतम्यानु-
रोधेन स्थानापकर्षात् पत्वमुपपद्यते । [रामाणा पण्णाम्] इति
रपनिबन्धन एत्वम् । वाक्, म्क्, रक्तम्, निर्गन्तमित्यादी कुन्धम् ।

सच्चरित-सञ्जनादिषु चुत्वमि-येव स्थानप्रयत्नक्रान्तिबलतारतम्य-
निवन्धना विशेषा भवन्तीत्यन्यत्र विस्तर ॥

॥ इति चतुर्थ खण्ड ॥४॥

तदित्यमिदमक्षरस्वरूप व्याख्यातम् । व्याख्यातश्चास्मिन्नक्षरे
स्वरव्यञ्जनयोरङ्गाङ्गिभाव । तत्रैतेष्वङ्गेषु व्यञ्जनेषूपसर्गे सत्यसति
वोपधानबलस्य कार्योपघायकत्वाभावेऽक्षरस्य लघुत्व वक्तव्यम् । यथा-
अ, य, न्य, क्य इत्येवमादय सत्यप्यद्यस्तात् व्यापारे ऊर्ध्वतो व्यापा-
राभावान्नघव । उपधाने त्वाक्रमणव्यापारस्य बलोपवायकतायामक्षरस्य
गुरुत्व भवतीति सिद्धान्त । दीर्घस्वराणां सन्ध्यक्षरस्वराणामनु-
स्वारविसर्गव्यञ्जनान्तस्वराणां व्यञ्जनद्वयसयोगपूर्ववर्त्तिस्वराणां चोप-
हितवर्णोपेततया पुरोऽकं व्यापारसत्त्वाद् गुरुत्वमुपपद्यते । यथा—
आ, ए, ऐ, अ, अत्र, इत्येवमादय पुरतो व्यापारवत्त्वाद्
गुरव । तथा चेत्थ लघुगुरुभेदादक्षरद्वैविध्य व्यवतिष्ठते ॥३॥

॥ इति पञ्चम खण्ड ॥५॥

“इति श्रीमधुसूदनविद्यायाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे अक्षरपरिष्कार ॥ (४)

॥ चतुर्थं प्रपाठ समाप्त ॥

अथ सन्धिपरिष्कारः पञ्चमः प्रपाठः ॥५॥

इदमेवाक्षरमक्षरान्तरेण सवियोगे परस्परेण बन्धनतो हृदयग्रन्थ्यु-
त्पत्तौ क्षरोत्पत्तिहेतुर्भवति । परब्रह्मविद्याया क्षरभूतानीव शब्दब्रह्म-
विद्याया क्षरा व्यञ्जनवर्णा । इन्द्रियग्राह्यं क्षरैरनिन्द्रियग्राह्यो वाक्-
प्राणोऽभिव्यज्यते तस्मादेपा व्यञ्जनत्वम् ॥

(१) निरूपकभेदात् सन्धिर्त्रैविध्यम्

तत्राय सन्धियोग परब्रह्मणीव शब्दब्रह्मण्यपि निरूपकभेदाद्
द्विविध ॥ विभूति योगश्च । तत्र योग पुनर्द्विविध । सश्लेष,
सपरिष्वङ्गञ्च ॥ यत्र युक्तयोरेक योगाय व्यापारवत् स्याद्, बद्ध सत्
परतन्त्र स्यात्, अपर तु निर्व्यापारमबद्ध स्वतन्त्रमवतिष्ठते । तत्र
व्यापिनो व्याप्येऽनुग्रहो विभूति । यथाह—

“अम्भो लवणे वायौ व्योम, मुखे दर्पणे यद्वत् ॥

विभवति तद्वद् विरजा भूतग्रामेऽव्यय परम ॥१॥” इति

क्षरेष्वक्षरो विभवतीति नियमादिह व्यञ्जनेषु स्वरो विभवति ।
यथा ‘म्ब्यर्कट्’ शब्देऽकारश्चतुर्षु पूर्वेषु त्रिषु चोत्तरेषु व्यञ्जनेष्वालम्ब-
नतया विभवन् दृश्यते । १ । क्षरेषु चान्यतरस्यान्यतरस्मिन् विभूति ।
यथा रामाणा वर्ष्मणामित्यत्र मूर्द्धन्ययो रपयो प्रयत्नमहिम्ना दन्त्यो
नकारो मूर्द्धन्यतामापद्यते ॥२॥ अथैतेष्वेव स्थानेषु व्याप्यस्य व्यापिनि
योग सश्लेष ॥ तमेकतो बन्धयोगमाचक्षते ।

“अम्भसि लवण, वायुर्व्योम्नि मुख दर्पणे यद्वत् ॥

श्लिष्यति तद्वद् विरजसि भूतग्रामोऽव्यये परमे ॥१॥”

एवमिह व्यञ्जनान्यबद्धे स्वरे सश्लेषानि बद्धानि ॥३॥ क्षराणा
चैकस्यान्येन सश्लेष ॥ तत्र सश्लेषाद्रव्ययोगादेकस्यान्येन बन्धनमात्र
न त्वन्यस्मिन्नन्यस्यानुप्रवेश ॥ एतदभिप्रायेणैवाह भगवद्गीतायाम्—

“मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
 मत्स्थानि सबभूतानि नचाह तेष्ववस्थित ॥६।४॥
 न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमेश्वरम् ॥
 भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥६।५॥
 यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
 तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानोत्पुपधारय ॥६।६ ॥इति॥

मत्स्थानीति सश्लेषात्मकमेकतो बन्धनमाह ॥

नचाह तेष्विति परस्य तत्राबन्धनमाह । न च मत्स्थानीति-
 समन्वयलक्षणानुप्रवेशप्रतिषेधमभिप्रैतीति चिवेत्तव्यम् ॥५॥

(२) व्यञ्जनभेदात् सश्लेष-साप्तविध्यम् ॥

स हि सश्लेषो व्यञ्जनभेदात् सप्तविधो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते ।

अथ साप्तविधा सयोगपिण्डा —

“यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्त स्यान् दारुपिण्डवत् ॥
 अन्त स्थयमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत् ॥१॥
 अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ॥
 अक्षरीरं यम विद्यादन्तं स्थं पिण्डनायकम् ॥२॥
 ज्वालापिण्डान् सनासिक्यान् सानुस्वारांस्तु मृन्मयान् ॥
 सोपध्मान्वायुपिण्डांस्तु जिह्वामूले तु वज्रिण ॥३॥

अग्निं पत्वनोत्पयस्पिण्ड ॥१॥ अत्र पञ्चमापञ्चमयोर्मन्व्यवर्तिनी
 विच्छेदस्याक्षरीरत्त्वाद्विशेषानुपलब्धिः ॥ सत्यम् । अथ । विल्मिने ।
 इति दारुपिण्ड ॥२॥ अत्रान्तं स्थाना लघुप्रयत्नतरत्वादायन्तिक-
 सन्निकर्षेण पिण्डनायकत्वाद्विशेषानुपलब्धिः ॥ अश्मन् । कृष्ण ।
 शर्मै-इत्यूर्णापिण्ड ॥३॥ ब्रह्म । वह्निः । गृह्णामीति ज्वालापिण्ड ॥४॥
 सस्थाम् । सश्लेषु । सिंहासीति-मृत्पिण्ड ॥५॥ द्यौर्पिता इति वायु-
 पिण्ड ॥६॥ इन्द्रकृति — इति वज्रपिण्ड ॥७॥

(३) वीर्यभेदात् सपरिष्वङ्गद्वैविध्यम् ।

अथ वीर्यभेदात्सपरिष्वङ्ग स चान्योन्यतो वन्वनरूप । अक्षरस्याक्षरेण योग सपरिष्वङ्ग । यथाय जारोरको विज्ञानात्मा प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो भवति, एवमेक म्वर स्वरेणान्येन सन्धीयते । यथा नदीय भानूदय इत्यादौ स्वरद्वयसपरिष्वङ्ग । दिव्यस्ति, दिक्ष्वस्ति दात्रस्ति, इत्यादिषु परस्वरेणोकारादीना योग ॥ तत्रेद त्रय सभाव्यते । दम्भनेन समञ्चन भवतीत्येकमात्रस्याद्धमात्रत्व निष्पद्यते ॥१॥ अथवा अन्योदरेऽन्याङ्गप्रवेशो भवतीत्यत इकारस्य पठे विन्दावकारपञ्चम-विन्दुसमावेशादिकारस्याद्धमात्रमवशिष्यते ॥२॥ अथवा सहितयो-रुभयोरन्यतरस्य वाऽङ्गक्षत भवतीत्यत इकारस्याकारे युज्यमानस्य परमद्धमात्रमावृश्च्यते इति पूर्वार्द्धमात्रमवशिष्यते ॥३॥ एतेषु फलतो विशेषो न स्तीत्यस्तु यद्वा तद्वा ॥

“इग्यण सप्रसारणम्”—इति ब्रुवतो भगवत पाणिनेस्तु समञ्चने पक्षपात । समञ्चितस्यैव मप्रसारणसभवात् । अनुप्रविष्टस्य तूद्धरणमवक्ष्यत् । क्षतस्य वाऽनुसर्पितमवक्ष्यत् । श्रुतिरपि समञ्चन-प्रसारणयोरेवानुजानीते । श्रूयते हि सार्वयुपाग्निविद्यायाम्—

“अथात समञ्चनप्रसारणस्यैव । पशुरेव यदग्नि ।

यदा वै पशुरङ्गानि सचाञ्चति प्र च सारयति ।

अथ स तैर्वीर्यं करोति । प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् ।

यस्मिन्वा अङ्गे प्राणो भवति तत् सचाञ्चति प्र च सारयति” ॥इति।

[शत० ६।१।१४]

एतेन परब्रह्मणोव शब्दब्रह्मण्यपि वाक्प्राणस्य समञ्चन-प्रसारणाभ्यामेव व्यञ्जनस्वरसिद्धिरवकल्पते । तथाहि—व्यञ्ज-नाना सप्रमारणान् स्वरत्व सपद्यते । स्वराणां तु समञ्चनात् व्यञ्जनत्व भाव्यते ॥ तच्चेद समञ्चन स्वरद्वयसपरिष्वङ्गादियोग-विशेषादेवोपपद्यते ॥

(४) योगभेदात् सन्धिद्विविध्यम्

अथ सनिकर्षभेदात् सन्धिद्विविध । सक्रान्ति, सहिता चेति । तथाहि पूर्वोक्ता विभूति-सश्लेष सपरिष्वङ्ग-लक्षणास्त्रिविधा योगा शाब्दिकनये सन्धिद्वयेनाख्यायन्ते । अथ तत्र विभूतिरेका व्यवयसहा भवति सा सक्रान्ति । सश्लेषसपरिष्वङ्गी तु शब्दविद्याया सहितानाम्नाख्यायेते । यथाह कात्यायन प्रातिशास्ये—

“वर्णानामेकप्राणयोग सहितेति ॥”

स चैक प्राण स्वरस्य क्रान्तिमण्डलमनुष्टुप्छन्द ॥

“प्राणा वै वा वयोनाधाश्छन्दासि वै देवा वयोनाधा—इति श्रुते । (शत० ६।१ प्र०।६ब्रा०) ॥

प्राणविशेषस्यैवावच्छेदकताया छन्दस्त्वसिद्धे एकप्राणयोगो व्यवयैऽपि सभवतीति तत्प्रत्याख्यानाय पाणिनि —“पर सन्निकर्ष सहितेत्याह । क पर सन्निकर्ष इति चेत् स्वारसिकाद्धमात्राकाल मात्रव्यवायेनोच्चरण सहितेति केचिदाहुः । तदसत् । अवग्रहादौ पदद्वययोगेऽद्धमात्राकालप्रतिपत्तावपि वर्णद्वययोगे तावद्विच्छेदानुभवाभावात् । तस्मादर्धमात्रातोऽप्यल्पकालोऽवकाश सहिता । द्वयोर्वर्णयोर्वर्णान्तरेणाविच्छेद सहिता । वर्णान्तरान्तरितयोस्तु वर्णयो सनिकर्ष सक्रान्ति । सोऽय सक्रान्ति-सहिताभेदाद् द्विविध सन्धिव्याख्यात ।

(५) आश्रयभेदात् सन्धिद्विविध्यम् ॥

अथ आश्रयभेदात् सन्धि पुनर्द्विविध । स्वरसन्धिव्यञ्जनसन्धिश्च । स्वरसन्धि सहितायामेवोपपद्यते । न तु सक्रान्तिसन्निकर्षे व्यवयसहे । तत्रैकमात्रिकस्वरस्य पूर्वाद्धमात्रा पञ्चमविन्दु, पराद्धमात्रा षष्ठविन्दुरिति सज्ञायेते ॥ तथा च पूर्वस्वरषष्ठविन्दो प्रत्ययस्वरपञ्चमविन्दुत्वापत्ति-रक्षरयो सहिता । स स्वरसन्धि ॥ अन्याक्षरनिगृहोतव्यञ्जना-नामन्याक्षरेण निग्रहण व्यञ्जनसन्धि ॥३॥

(६) अयं बलभेदात् सन्धिद्विविधम्

न्वरव्यञ्जनसन्धिभ्यां वर्णगुणातिरेको भवति । अन्यथा नतो-
ज्यथाभावोऽतिरेकः । वर्णोपादानभूते वायौ वर्णस्वरूपविशेषोत्पत्त्य-
नुकूलं बलं वर्णगुणं । बलं द्विविधम् । आरम्भकं विशेषकं च । वर्ण-
स्वरूपोत्पत्तौ विनियुक्तं बलमारम्भकम् । तत् पञ्चधा—स्वरोपधाय-
कम् ॥१॥ अङ्गोपधायकम् ॥२॥ स्पर्शोपधायकम् ॥३॥ स्थानोपधाय-
कम् ॥४॥ नादोपधायकं चेति ॥५॥

स्वरोपधानं द्—ग्र अ अ—इत्यनुदात्तस्वरितोदात्तभेदादकार-
त्रैविध्यम् ॥१॥ अङ्गोपधानाद्—अ आ आ इ । इत्येतेषां ह्रस्वदीर्घ-
प्लुतानामेकैकाक्षरत्वम् ॥ व्यञ्जनानां च स्वराङ्गत्वं स्वरोच्चारणा-
धीनोच्चारणत्वम्, सव्यञ्जनस्वरस्यैकाक्षरत्वं च ॥२॥ स्पर्शोपधानाद्-
अ ऽ अ ड ग क ह—इत्यादयो धाराः ॥३॥ स्थानोपधानात्—अ इ उ
ऋ लृ—इत्यादयो धाराः ॥४॥ उपाशुवागृन्वाया मध्यभाया वाचि नादोप-
धानाद् ध्वनिप्रसङ्गाद् वैखरी वाक् प्रवर्तते ॥५॥

अथैतेष्वेव पञ्चसु बलेषु विनियुक्तं बलं विशेषकम् । तत् पञ्चधा-
उपजनकम् ॥१॥ उपघातकम् ॥२॥ विक्षेपकम् ॥३॥ विशेषाधायकम् ॥४॥
निरोधकं चेति ॥५॥

प्रयत्नोपजनाद् वर्णागमः । प्रयत्नोपघाताद् वर्णलोपः । प्रयत्नविश्ले-
पाद् वर्णविपर्ययः । विशेषाधानाद् वर्णदिशः । एषा चतुर्णां निरोधात्
प्रगृह्यत्वम् । तच्च विकारप्रतिबन्धात् प्रकृतिभाव-स्वरूपेणावस्थानम् ॥

इत्थं चारम्भकबले विशेषकबलतारतम्यानुरोधाद् व्यवेतस्याव्यवे-
तस्य वा बलवतो व्यञ्जनस्य गुणं प्रतिवाधिता दुर्बलस्य गुणा निवर्तन्ते ।

आक्रममाणाश्च बलवद्गुणाः स्थानं लभन्ते । तेनैतानि पञ्चविधानि
सन्धिफलानि जायन्ते : यथाह —

“वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तल्लोपस्तदादेश इमे विकाराः ॥

स्थितिः प्रकृत्येति च पञ्च सन्धेः फलानि वर्णद्वयसन्निकर्षे ॥१॥”

१- आगमो यथा ॥

सयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिमाह भगवान् कणाद ॥
तथाच—स्वरपूर्वो नासिक्येतर स्पश पदान्तोऽवसानेऽपदान्तश्च
व्यञ्जनप्रत्यये पूवस्वरेणाक्रान्तो भवति ॥ तत्र पूर्वस्वरोऽभिक्रमते ॥ तेन
बलवत्सयोगजवर्णसदृश प्रतिध्वनिरूपो विभागजो वर्ण प्रादुर्भवति स
क्रमजो नामोपजन पराङ्ग स्यात् ॥

यत्या विच्छिद्योच्चारणहेतुभूत पूर्वस्वरेण निग्रहण क्रमणम् ॥
रामात्त् । वत्त्स । आत्त्मा । सत्त्यम् । शक्क । आतनच्च्मि ।
सज्जमा । १।

हकारपरत्वे क्रमजस्य पराङ्गत्वेन तद्योगात् सोष्मवर्णसिद्धि ।
वाग्घस्ती । पड्ढस्ती । तद्धस्ती । वकुव्भरती ॥२॥३॥

ङणानाना तु ह्रस्वस्वरपूर्वाणां स्वरोदयत्वे स उपजन पराङ्गम् ॥
प्रन्यङ्ङात्मा । सुगण्णीश । सन्नच्युत ॥३॥

स्वरभक्त्युदयत्वेऽप्यसति विरोधे स्वरोदयवत् सन्धिफलम् ।
अस्ति ह्युष्मणा स्वरभक्त्यारब्धत्वम् । अर्श । आपंम् । अर्ह । ह्लाद ।
ह्लाद । इच्योतते । स्त्यानम् । स्त्री । घृशन । स्थिति । इत्यादि-
पूष्मोच्चारणात् प्राक् स्वरभक्त्या अकारेकाराद्यात्मन आभासमान-
त्वात् । तेन प्राङ्क्षप्ट । सुगणट्पष्ट । सन्त्स । सबृह्मभुरित्यादौ
क्रममाणांना ङणानाना विभागजोपजना ङणाना एव जायन्ते । किन्तु
तेषां पराङ्गतया तेभ्यो नासिक्यतापादक्यन्तो निवर्तते । सनिकृष्टाना-
मुष्मणा नासिक्यप्रतिपन्थिगुणशालितया तेन नासिक्यगुणस्य प्रति-
रुद्धत्वात् । ४।

सकारस्य नित्यदन्तस्थानत्वेन विवक्षया प्रगृह्यत्वम् ॥ तत्र दन्त्यता-
गुणप्राबल्यात् तत्प्रत्ययत्वोपजातस्य टस्य दन्त्यत्वम् ॥ षट्सुखिन ।
पट्सन्त । ५।

स्वरपूर्वाभ्यां रहाम्या परस्मिन् हभिन्नेऽनुष्मान्तस्थोदये व्यञ्जने

पूर्वस्वर क्रमते न क्रमते वा । तर्कं , स्वर्गं , गर्जनं , ब्रह्म, न ह्यस्ति ।
उच्चारणातिरेकोऽयमैच्छिक साप्रदायिको वा द्रष्टव्य । उष्मान्न स्थपरस्त्वे
तु न क्रमते । कात्स्न्यम् । स्वर्ग्यम् ॥६॥

छकारेतरसोष्मस्पर्शो पराङ्गत्व प्रवलमिति नात्र पूर्वं स्वर
क्रमते । मख । मघा । शठ । अथ । वघ । मभा । छकारे तु पराङ्ग-
स्पर्शो निसर्गात् पूर्वस्वरोऽपि क्रमते—इति क्रमजश्चकारोऽयमुष्मणा
युज्यते । स्वच्छाया । शिवच्छाया । विच्छिद्यते । पदान्तदोर्घस्वरात्तु
पदान्तयत्या विच्छेदादिद क्रमण निवतते, अनुवर्तते वा । ना च्छाया
आच्छादयति । माच्छिद्यदित्यादौ त्वैकपद्यविवक्षेति न विकल्प ।७।

यद्यपीदमुपजनवैचित्र्य व्यञ्जनद्वयसंधाने व्यञ्जनगुणप्रकृति-
निवन्धनमेवोपपद्यते, तथापि तादृशप्रकृत्यनुकूलमुच्चारणमुच्चारयितु
सप्रदायविशेषादेवोपकल्पते । आच्छादयति माच्छिद्यदित्यादौ चकारो-
पजनस्य साप्रदायिकोच्चारणप्रकृत्यैवोपपन्नत्वात् । क्वचित्पुनरेव क्रमजो-
पजनो विवक्षाधीनो नैकान्तिक । क्रमणस्योच्चारणविशेषाधीनतया
साप्रदायिकत्वात् ।

अतएव दीर्घाद् द्वित्व नास्तीत्याचार्य्य उपवर्षो मन्यते । इन्द्र
राष्ट्रमित्यादौ ह्यधिकव्यञ्जनयोगे द्वित्व नास्तीति शाकटायन । सर्वत्र-
द्वित्व नास्तीति शाकत्य । एते च क्रमजोपजना 'साप्रदायिका
अपि वर्णप्रकृतिसापेक्षा सन्तीत्यारयाता ॥

केचित् पुनवर्णप्रकृतिनिरपेक्षा केवल भाषाव्यवहर्तृप्रकृतिसापेक्ष-
तया व्यवहारविशेषादागमा भवन्ति । यथा—

“विश्रवाङ्मुङ्घुगित्यादौ हकारात् प्राग्ङगागम ॥

गर्भ उद्ग्राभनिग्राभौ सजभारेति वागम ॥१॥

ईरैरिणीरादौ अकारागम स्वरै स्वरै । तृतीयासमस्तस्याकारा-
द्भ्रूते, “प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृशे” उपसर्गाच्चाकारान्ताद्
ऋकारादिघातुवृत्तेष्वकारागम ।

सुखेन ऋत सुखार्तं ॥ प्रारणम् । प्राच्छंतीत्यादि । ते चैते पदनिबन्धना उपजना इहोपेक्ष्यन्ते ॥१॥

२. अथ लोपः ।

प्रयुगमिति वक्तव्ये उच्चारणदोषाद् यलोप । प्रउगम् ॥१॥

उत् स्निगिति वक्तव्ये उदो दलोप । उष्णिक् ॥२॥

“उद स्थास्तम्भोः प्रयत्नोपघातात् सलोप ।” उत्थानम् । उत्तम्भनम् ॥३॥

श्रवसाने “सयोगान्तस्य लोप ” । अथशब्दे थकाराकारस्य विपर्ययात् पदादित्वे पदान्तस्य हस्य प्रयत्नप्रतिबाधाद्भ्रूलोप । आत् । स्वतन्त्रनिपातत्वे पर्यायपरिवृत्तिसहोऽयम् ।

“आद्रात्रो वासस्तनुते”—इत्यत्र अथ रात्रोति वक्तुं शक्यत्वान् । पञ्चमीविभक्तिनिपातत्वविवक्षाया त्वय पर्यायपरिवृत्त्यसहो भवति देवात् । स्मनिपातेन सयुक्त्वे यस्मात्तस्मादित्यादी सर्वनामान्तस्तकार प्रयत्नङ्गेशाल्लुप्यते ॥४॥

व्यञ्जनादुत्तरेषा नासिक्यान्त स्थाना नामिक्यान्त म्यपरत्वे लोप ॥ शय्या—इत्यत्र प्राकृतयोर्यकारयोरेक क्रमजे तृतीये यकारे विलुप्यते ॥ अदितेरपत्यमादित्य इत्येको यकार स क्रमजे यकारे विलुप्यते । आदित्यदेवताक स्थालीपाक आदित्य इति द्वौ यकारौ, तौ क्रमजे तृतीये विलुप्येते ॥ सख्यातानुदेशान्नेह-तन्मन्त्रानम ॥५॥

नासिक्यान्त स्थेतरेषा तु व्यञ्जनादुत्तरेषा सवर्णव्यञ्जनपरत्वे लोप । मरुत्त, प्रत्तामवत्तम् इतिद्वयोस्तकारयोरेक क्रमजे तकारे लुप्यते । नेह सख्यातानुदेश । तेन शिण्डि, पिण्डि—इति ढकारे डकारो लुप्यते । ग्रन्थ् घातोस्तुप्रत्यये तलोपाद् ग्रन्थुरित्यादयोऽप्युन्नेया ॥६॥ इ ए परस्य यस्य, उ आ परस्य वस्यानभिव्यक्ति । नरयीश्वरो नर ईश्वर । योयायीश्वर, योन्या ईश्वर । भो एको, भोयेक । हरयेक हरएक । त्वोतास तोतास. । इत्येतेषु द्वयोर्द्वयो साम्येनोच्चारणम् । “अत्र “व्योर्लघुप्रयत्नतर शाकटायनस्य” ॥१॥ “लोप शाकट्यस्य ॥२॥” “श्रोतो गार्ग्यस्य ॥३॥” इति त्रय सप्रदायभेदा ॥ भोयेको हरयेक

इत्युभयत्र यकारस्य स्वरधम्मिमतया श्रवण शाकटायनो मन्यते । भोएको हरएक — इत्युभयत्राश्रवण शाकल्यो मन्यते ॥ गार्ग्यस्तु भो एक इति लोप, हरयेकइति लघुप्रयत्नतरयकार पश्यति ॥७॥

ऋचशब्दे रयानभिव्यक्तिलोके, छन्दसि तु लोप-तृचम् । ऋपि-रिति रयानभिव्यक्ति ॥८॥

३- अथ विपर्ययः ।

अक्षवाहिनी, प्रवाह, प्रवाढ प्रवाढोति प्राप्ते वाऽक्षरविशकलनात् सिद्धानाम्—उ अ अ—इत्येतेषां विपर्ययेण सन्धौ अक्षौहिणी-प्रौह-प्रौढ-प्रौढिसिद्धि ॥१॥

स्थिरशब्दोष्मण स्वरभक्तेर्विपर्ययेण सकारादुत्तरत्वे प्रयत्नदो-पात् सस्वरभक्तयोस्तालव्यत्वे शिथिरशिथिलशब्दसिद्धि । अथवा अथ-श्लथान्त स्ययोर्विपर्ययेण शथर-शथल सपत्नी प्रयत्नदोषादिकारद्वयो-पनिपात । शिथिर शिथिल ॥२॥

पश्यकशब्दे पकयोर्विपर्ययेण कश्यपत्वम् ॥ शययोर्विपर्ययेण जाते प्रयत्नप्रतिबाधेन यकारस्य स्पर्शात्कर्पाञ्जत्वचत्वाभ्यां शस्य तु स्पर्शात्कर्पा-च्छत्वे कच्छपशब्दो निवृत्त ॥ कशामहंति कश्योऽप्येव कच्छो-ऽभवत् ॥३॥

अथशब्दे पदान्ताकारम्य पदादित्वेन विपर्यये आच्छब्दो निपात ॥४॥

एवपदादे सन्ध्यक्षरस्य पदान्तत्वविपर्यये वैशब्दसिद्धि ॥५॥

अनश्च इति अन् शब्दो नविपर्ययसिद्ध ॥६॥

कृती छेदने इत्यस्मात् उप्रत्यये कतुरिति वक्तव्ये ककार-तकारयोर्विपर्यये त्कुरिति, तुशब्दे तकारोकारयोर्विपर्यये उत् इति भृधातोर्मनिन्प्रत्ययान्निष्पन्ने भर्मन् शब्दे बकारोत्तरवर्तिनो हकाररे-

फयो स्थानविपयसि ब्रह्मन् इति, ओम् शब्दे अ उ म् इत्येतेषु वर्णेषु
अकारस्य उकारस्य च विपयसि वम् इति च निष्पद्यते । तदुक्तम्-

“ओमोऽकारोकारयोर्वम् परस्परविपर्ययात् ॥
मर्मणो हरयोर्ब्रह्म परस्परविपर्ययात् ॥१।६॥
बहोर उत्त्वमैत् सोऽभूद्धात्परो भूरभूवयम् ॥
घातुस्ततोऽभूद् भूर्भूमिर्भूमा भूयान् बहु ब्रुजन् ॥२।६॥
निघ्नंशुशब्दे रहयोनिघण्टु स्याद् विपर्ययात् ॥
विक्षेपात् तरयोरेकबिन्दुत्वे स्पर्शनद्रुते ॥३।१०॥

४- अथ आदेशः ।

आरम्भके बले यत्र विशेषकबलोदयात् ॥
लोपागमविपर्ययात्तबलाना स्यु समुच्चयात् ॥१॥
गुणाना कस्यचिन्नाश कस्यचिच्चागम सह ॥
कस्यचिद्वा विपर्ययात्तमादेश प्रचक्षते ॥२॥

विशेषकवल तावन्नानाविध भवति । तस्य प्रत्येकबलस्य
तारतम्यात् पुनरत्र नानाविध्यं प्रवर्तते । तद्यथा गतिरेक बलम् ।
तत्र द्रुतिसमस्तुतयो विशेषा स्यु । उर कण्ठ शिर इति त्रीणि
सवनस्थानानि । तत्प्रापक बल स्वरोपधायक नाम । तत्र विशेषकवल-
तारतम्याद् विशेषा । यथा उदात्तस्वरितयो प्रकृतत्वे द्रुतिगत्याऽनु-
दात्तात्वम् । अनुदात्तोदात्तयो समगत्या स्वरितत्वम् । अनुदात्तास्वरितयो
स्तुतिगत्याऽदात्तात्वम् । अथ मन्वारणमन्यद्वलम् । तेन स्वरोपधाने
प्रतिसवन द्वौ द्वौ विशेषौ—निगृहीतमुद्गृहीत च । तथा च सन्नतरानु-
दात्तौ । स्वरितप्रचितौ । उदात्तोदात्ततराविति षट् स्वरा स्यु ।
उरसि नीचं सन्नतरो निघात । उरस्येवोच्चैरनुदात्ता । कण्ठे नीचं
स्वरित । तत्रोच्चै प्रचित । शिरसि नीचैरुदात्ता । तत्रोच्चै-
रुदात्तर ॥

शिर	❀	उदात्तर ————१
	❀	उदात्त ————२
कण्ठ	❀	प्रचित ————३
	❀	स्वरित ————४
उर	❀	अनुदात्त ————५
	❀	निघात (सन्नतर) —६
नाभि	❀	

तारतम्यकृतविशेषानपेक्षया तु त्रय एव ते स्वरा उपपद्यन्ते ।
तथा चाह—

॥ उच्चादुच्चतर नास्ति नीचान्नीचतर तथा ॥१॥

अथाङ्गोपधायके वलेऽभिव्याप्तिरेक विगेपकवलम् । तत्रावच्छेद-
तारतम्य मात्रा नामान्यद्वलमनुवर्त्तते । तथा चैकमात्रो ह्रस्व ।
द्विमात्रो दीर्घ । त्रिमात्र झुत । तदेक छन्द । स्वरमात्रमक्षरम् ।
अथवा व्यञ्जनेनैकेन, द्वाभ्या, त्रिभि, चतुर्भि, पञ्चभि, षड्भि
मप्तभिर्वाऽवच्छिन्नमक्षरमित्यन्यच्छन्द ॥२॥

अथ स्पर्शोपधाने विवृत^१ मन्द^२ दुर्योग^३ द्विस्थानिक^४ मृदु^५ तीव्रा^६-
ऽर्द्धसम भेदात् सप्त विगेपा । समसामुरयेनावस्थितयो स्थान-
करणयोर्मध्येऽवगुण्ठितेन वर्णोपादानभूतप्राणवायुना स्पर्शप्रतिबन्धो
विवृतम् ॥१॥ स्थानकरणयोरस्पृष्टयोरेव स्पर्शोन्मुखत्वप्रयत्नत स्पर्श-
मान्धम् ॥२॥ तत्रैवात्यल्पमात्रया स्पर्शप्रसक्तौ दुर्योग । स च करगु-
वैपम्यात् स्पर्शाऽस्पर्शं ॥३॥ मुखस्थानस्पृष्टस्योपरिष्ठान्नासानाडीस्पर्शो
द्विस्थानिकत्वम् ॥४॥ मृदुस्पर्शाद् गजहृदवा ॥५॥ तीव्रस्पर्शात् क च
ट त पा ॥६॥ अर्द्धसमत्व सस्वरभक्तिक्त्वादशतो विवृतमशत
स्पर्शं ॥७॥ तदित्यमेपा विशेषकवलाना प्रत्यासत्या स्पर्शतारतम्य
घटत इति वर्णान्तरादेश । यथा—इ उ ऋ लृ—इति नामिन
स्वरा । तेषा विवृतप्रयत्नाना स्थानेऽन्तरतमा ईपत्स्पृष्टा अन्तस्था
असवर्णस्वरपरत्वे । दिव्यस्ति । मध्वस्ति । पित्रागम ॥३॥

स्थानोपधायके च द्रुनिसमस्तुतयो विशेषा । द्रुतिगत्या प्रथम-
स्थाने कण्ठे, समनत्या मध्यमस्थाने तालुमूर्द्धदन्तान्यतमे, स्तुतिगत्यो-
त्तमे स्थाने श्रोत्रे स्थानोपधायकबलम्यावगातः । मध्यमेऽपि सम-
द्रुत्या तालुनि । ममसाम्यान्मूर्द्धनि । समस्तुत्या दन्तेऽवपात । द्रुत्या
तस्य क — शुष्क । स्तुत्या च तस्य व — पक्क । समसाम्यात् तस्य ट -
कृष्ट ॥ एकस्थानिकस्य द्विस्थानिकत्वसाधनात् तस्य न — वृक्कण ,
हीन । स्तुत्या द्विस्थानिकत्वसाधनाच्च क्षाम ॥४॥ क्वचित्त्वा स्थान-
बलस्पशत्रलयोरुभयोरपि विशेषाधानात् सिद्धि ॥ यथा—सरयो-
रघोषपरत्वेऽवसाने च विसर्गं । उच्चं पुन पुन ॥१॥ अकारात्पर
सो हत्वमापद्योत्वमापद्यते अकारघोषपरत्वे । देवोऽस्ति, देवो गत ॥२॥
आकारात्तु सस्य हत्वमापन्नस्य विवृत्ति स्वरघोषपरत्वे । यथा—देवा
गच्छन्ति, देवा हपन्ति, देवा आयान्तीत्यादौ । इकारादिभ्य स्वरेभ्य
परस्तु स रेफतामापद्यते स्वरघोषपरत्वे । यथा—हरिरय, हरिर्गत ।
भानुरय, भानुर्गत । उच्चं रय नोच्चं रगत ॥४॥ स्वरेभ्यो रसयोरघोष-
परत्वे तदघोषस्थानीयोष्मा । शिव—करोति । हरिश्चिनोति । भानु-
धीकते शनंस्तन्वते । उच्चं—पठति ॥५॥ इत्येवविधेष्वादेशविकारेषु
वर्णांगुणा लुप्यन्ते विपर्ययन्ते वा इत्यूह्यम् ॥

अथ प्रकृतिभावः

यस्य स्वरूपमेव दर्शयितुमिष्यते । स प्रकर्षेण गृहीतत्वात् प्रगृह्य ।
स हि सत्यपि विकारनिमित्तप्रत्यासत्तौ प्रगृहीतत्वादेव न स्वरूपाच्च्य-
वते । न विकार गृह्णाति । ई ऊ ए—द्विवचन प्रगृह्यम् । हरी एतौ,
त्रिष्णू इमी । द्रव्ये इमे । ईपदर्थमवध्यर्थमाकार त्वक्त्वा एक स्वरो
निपात प्रगृह्य । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ । ओकारान्तो
निपात प्रगृह्य । अहो ईशा विवक्षानिवन्-नोऽय प्रकृतिभावो
यथाविवक्ष द्रष्टव्य ॥

इति श्रीमधुसूदन-विद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे
सन्धिप्रभेदपरिष्कार पञ्चम प्रपाठ ।

पथ्यास्वस्ति

हिन्दी व्याख्या

१ वेद में वरुणमातृका को पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। अतः पथ्यास्वस्ति शब्द का अर्थ वरुणमातृका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि^१ शब्द-ब्रह्म के ज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः परब्रह्म-रूपी अक्षर (अविनाशी) तत्त्व के ज्ञान के लिए विज्ञानतत्पर श्रीमधुसूदन भा यहाँ गव्द-ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं।

अनेक प्रकार का वर्णाक्षर-ममाम्नाय लोक में प्रसिद्ध है। उनमें से यहाँ वैदिक वर्णमातृका का प्रधानतया निरूपण किया जा रहा है।

ओष्ठो से ढकी हुई, दातो से परिवेष्टित मारे वर्णों को उच्चारण करने में समर्थ वज्ररूपा यह नकुलाकारिणी जिह्वा मृगे सुन्दर शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करे।

वरुणममाम्नाय (वरुणमातृका) नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती, स्थान-प्रयत्न-समोच से उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इसीलिए महाभाष्य-कार पतञ्जलि ने 'मिद्वे शब्दार्थसम्बन्धे' इस उक्ति के द्वारा शब्दों को, अर्थों को, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बतलाया है।

२ (१) ममान प्रयत्न वाले तथा भिन्न स्थान वाले वर्ण —

अ	इ	ऋ	ऌ	उ
ऌ	य	ऒ	ल	व
अ	य	ऌ	ळ	व
ग	ज	ऌ	द	व
क	च	ट	त	प
ह	श	ष	स	ह

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।
शब्दे ब्रह्मणि निष्पात पर ब्रह्मापिगन्धर्ति ॥ मु उ

स्थानोपधायके च द्रुनिममसुतयो विशेषा । द्रुतिगत्या प्रथम-
स्थाने कण्ठे, समगत्या मध्यमस्थाने तालुमूर्द्धदन्तान्यतमे, सुतिगत्यो-
त्तमे स्थाने श्रोत्रे स्थानोपधायकबलस्यावपात । मध्यमेऽपि सम-
द्रुत्या तालुनि । ममसाम्यान्मूर्द्धनि । समसुत्या दन्तेऽवपात । द्रुत्या
तस्य क —शुष्क । सुत्या च तस्य व —पक्क । समसाम्यात् तस्य ट-
कृष्ट ॥ एकस्थानिकस्य द्विस्थानिकत्वसाधनात् तस्य न —वृक्कण,
हीन । सुत्या द्विस्थानिकत्वसाधनाच्च क्षाम ॥४॥ क्वचित्तु स्थान-
बलस्पशत्रलयोरुभयोरपि विशेषाधानात् मिद्धि ॥ यथा—सरयो-
रघोषपरत्वेऽवसाने च विसर्ग । उच्च पुन पुन ॥१॥ अकारात्पर
सो ह्रस्वमापद्योत्वमापद्यते अकारघोषपरत्वे । देवोऽस्ति, देवो गत ॥२॥
आकारात्तु सस्य ह्रस्वमापन्नस्य विवृत्ति स्वरघोषपरत्वे । यथा—देवा
गच्छन्ति, देवा ह्रन्ति, देवा आयान्तीत्यादी । इकारादिभ्य स्वरभ्य
परस्तु स रेफतामापद्यते स्वरघोषपरत्वे । यथा—हरिरय, हरिर्गत ।
भानुरय, भानुर्गत । उच्चरय नोच्चर्गत ॥४॥ स्वरेभ्यो रसयोरघोष-
परत्वे तदघोषस्थानीयोष्मा । शिव—करोति । हरिश्चिनोति । भानु-
धीकते शनैस्तन्वते । उच्च—पठति ॥५॥ इत्येवविधेष्वाम्नादेशविकारेषु
वर्णांगुणा लुप्यन्ते विपर्ययन्ते वा इत्युह्यम् ॥

अथ प्रकृतिभावः

यस्य स्वरूपमेव दर्शयितुमिष्यते । स प्रकर्षेण गृहीतत्वात् प्रगृह्य ।
स हि सत्यपि विकारनिमित्तप्रत्यासत्ती प्रगृहीतत्वादेव न स्वरूपाच्च्य-
वते । न विकार गृह्णाति । ई ऊ ए—द्विवचन प्रगृह्यम् । हरी एती,
विष्णु इमी । द्रव्ये इमे । ईषदर्थमवध्यर्थमाकार त्वक्त्वा एक स्वरो
निपात प्रगृह्य । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ । ओकारान्तो
निपात प्रगृह्य । अहो ईशा विवक्षानिवन्त्रनोऽथ प्रकृतिभावो
यथाविवक्ष द्रष्टव्य ॥

इति श्रीमधुसूदन-विद्यावाचस्पतिप्रणीते पथ्यास्वस्तिग्रन्थे
सन्धिप्रभेदपरिष्कार पञ्चम प्रपाठ ।

पथ्यास्वस्ति

हिन्दी व्याख्या

१ वेद में वरांमातृका को पथ्यास्वस्ति कहा जाता है। अतः पथ्यास्वस्ति शब्द का अर्थ वरांमातृका है। ग्रन्थकार कहते हैं कि शब्द-ब्रह्म के ज्ञान के बिना परब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः परब्रह्म-रूपी अक्षर (अविनाशी) तत्त्व के ज्ञान के लिए विज्ञानतत्पर श्रीमधुसूदन भा यहाँ शब्द-ब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं।

अनेक प्रकार का वरांक्षर-ममाम्नाय लोक में प्रसिद्ध है। उनमें से यहाँ वैदिक वरांमातृका का प्रधानतया निरूपण किया जा रहा है।

श्रोष्ठों से ढकी हुई, दातों से परिवेष्टित नारे वणों को उच्चारण करने में समर्थ वक्षत्पा यह नकुलाकारिणी जिह्वा मुझे सुन्दर शब्दों का उच्चारण करने के लिए प्रेरित करे।

वरांममाम्नाय (वरांमातृका) नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती, म्यान-प्रयत्न-समोग में उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'मिदं शब्दार्थमम्बन्धे' इस उक्ति के द्वारा शब्दों को, अर्थों को, तथा उनके पारस्परिक मम्बन्ध को नित्य बतलाया है।

२ (१) ममान प्रयत्न वाले तथा भिन्न म्यान वाले वण --

अ	इ	ऋ	ए	उ
ऌ	य	र	ल	व
अ	य	ऌ	ळ	व
ग	ज	ड	ढ	ब
क	च	ट	ठ	प
ह	श	ष	स	ह

१ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥ मु उ

३ (२) ममान स्थान वाले तथा भिन्न प्रयत्न वाले वर्ण —

अ	ऽ	अ	ग	क	ह
इ	य	य	ज	च	झ
ऋ	र	ऌ	ड	ट	ष
लृ	ल	ळ	द	त	स
उ	व	व	ब	प	ह

इस प्रकार वदिक वर्णमातृका के अनुसार ३० शुद्ध वर्ण हैं। इनमें हकार का उच्चारण कही कण्ठ-स्थान से तथा कही ओष्ठ-स्थान से होता है। अतः स्थान-भेद से उसके दो भेद होने पर भी उच्चारण में कोई भेद नहीं है। अतः 'ह' वर्ण एक ही है इस दृष्टि से शुद्ध वर्ण २९ हैं।

समान प्रयत्न वाले तथा दो स्थानों वाले वर्ण —

४	अँ	इँ	ऋँ	लृँ	उँ—अस्पृष्ट अनुनासिक
०	यँ	०	लं	वं—ईपत्स्पृष्ट अनुनासिक	
५	अ	अ	अ	अ	म—स्पृष्ट अनुनासिक

इस प्रकार अनुनासिक वर्ण १३ हैं। इस प्रकार, प्राकृतिक निरूढ (प्रसिद्ध) वर्ण ४२ हैं। इससे भिन्न वर्ण इन्ही वर्णों के विकार हैं जैसे यौगिक तथा अयोगवाह वर्ण।

५ यौगिक वर्ण स्वर-व्यंजन-भेद से दो प्रकार के हैं। दीर्घ और प्लुत आ, ई, ऊ, ऋ, ए, अम्, ऐ, आइ, आ, अव्, औ, आउ ये १६ यौगिक स्वर हैं। ये प्रत्येक यौगिक स्वर शुद्ध तथा अनुनासिक-भेद से दो प्रकार के हैं। अतः ३२ यौगिक स्वर होते हैं।

६ वर्णों के द्वितीय वर्ण ख, छ, ठ, थ, फ तथा चतुर्थ वर्ण घ, झ, ढ, ध, भ तथा ढ और ळ-ह-ये १२ मायौगिक व्यंजन हैं। जिनम उप्म हकार तथा शुद्धस्पर्श-वर्णों का योग है। इस प्रकार मिला कर ३२ + १२ = ४४ यौगिक वर्ण हैं।

७ इनके अतिरिक्त कुछ अयोगवाह वर्ण और हैं। अयोगवाहों में स्वरभक्ति, रङ्ग, अनुस्वार, विसर्ग, औरस्य उप्मा, जिह्वामूलीय, उपमानीय तथा यमो की गणना है। इनमें ऋ, लृ, इ—ये तीन स्वरभक्तियाँ हैं। आँ, ईँ, ऊँ ये तीन रग वर्ण कहलाते हैं।

अ अ ये दोनो क्रमश अनुस्वार व वितग कहलाते हैं ।

१ ह्र ह्र—ये औरस्य उप्मा कहलाते हैं ।

—क—इनमे क और प मे पूर्व अर्धविभगनद्वय चिह्न क्रमश जिह्वा-मूलीय व उपध्मानोय कहलाता है ।

कु खु गु घु ये चार यम कहलाते है ।

उपर्युक्त रीति से अयोगवाह ११ हैं ।

स्वरभक्ति

८ ऋ और लृवर्णों मे क्रमश रेफ और लकार ये चाहे तरफ स्वरभक्ति है । याज्ञवल्क्य ने शिक्षा मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । जैसे—

“ऋलोभंध्ये भवत्यद्वमात्रा रेफलकारयो ।

तस्मादस्पृष्टता न स्याद् ऋलृकारनिरूपणे ॥”

अर्थात् ऋ और लृवर्णों मे क्रमश आधी मात्रा रेफ और लकार की है और ये ईपत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं । अतः ऋ और लृ को अकारादि वर्णों की तरह अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता । ऋकार और लृकार मे विद्यमान स्वरभक्ति का सम्प्रदायभेद से चार प्रकार मे उच्चारण किया जाता है । कुछ व्यक्ति उन स्वरभक्ति का अकार के समान उच्चारण करते है, जैसे ऋपि का रिपि । प्राच्य लोग इकार के समान जैसे ऋपि = रिपि । उदीच्य लोग उकार के समान जैसे ऋपि—रुपि । और माध्यन्दिन-शाखा वाले उसका एकार के समान उच्चारण करते हैं जैसे ऋपि—रेपि । इसीलिए “ऋकारस्य तु सयुक्तासयुक्तस्या-विशेषेण मत्रार्थवम्” इस प्रतिज्ञा-सूत्र मे तथा “ ऋकारो ह्रस्वियुग्युक् च सैकार-दृष्टदमि स्मृत ” इस केशवी के वचन मे ऋकार की स्वरभक्ति का एकार के

१ तत्र द्वावोरसौ ह्र इति ह्र इति, इस प्रकार याज्ञवल्क्यशिक्षा मे ह्र तथा ह्र को ही औरस्य उप्मा बतलाया है न कि ह्र व ह्र को किन्तु यहा भी ‘ह्र’ अतस्थों का तथा ‘ह्र’ पञ्चम वर्णों का बोधक है । अर्थात् य, र, ल, व, इन अतस्थ वर्णों के साथ वर्णों के पञ्चम वर्णों इ, ऊ, ए, न, म, के परे होने पर उससे पूर्ववर्ती ह्रकार उर स्थानीय होता है । इसीलिए टीकाकार श्रीअमरनाथ दीक्षित ने याज्ञवल्क्योक्त उपर्युक्त ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए कहा है—वर्गपञ्चमैरन्तस्थाभिश्च युतो द्विविधो ह्रकारो ह्रसदृशो ह्रसदृशश्च प्रोरसो ज्ञेय । मा शि पृ १५२

२ ऋवण जैसे ह्र (व्यंजन) से सयुक्त हो या वियुक्त, वेद में उसका उच्चारण एकार का होता है ।

समान उच्चारण वतलाया है। जैसे वृष्ण—क्रेष्ण, ऋत्विय = रेत्विय, क्लृप्त = वलेप्त। इन सूत्रों में इकार व उकार के समान उच्चारण का निषेध किया है। उपर्युक्त रीति से अ, इ, उ, ए ये चार अर्धमात्रिक स्वरभक्तिया मम्प्रदायभेद से हैं। इनके उच्चारणमात्र में सम्प्रदायभेद में भेद हैं। लिपि सभी मतों में समान है—ऋ, लृ। क्योंकि उच्चारण के अनुसार लिपि का भेद नहीं बन सकता। अकारादि उच्चारण के समान लिपि में भेद करने पर ऋ के स्थान में र, रि, ए या रे लिपिया होगी और इन लिपियों में अकारादि स्वर एकमात्रिक हैं जब कि ऋकार और लृकार में विद्यमान स्वरभक्ति 'अर्धमात्रिक' है। अर्धमात्रिक का उच्चारण तो बन सकता है पर लिपि में अर्धमात्रिक अकारादि की पृथक् लिपि नहीं है। अतः लिपि में ऋ लृ ही लिखे जाते हैं। लृकार के उच्चारण में प्रायः लकार के बाद रेफ का उच्चारण और करते हैं। जैसे लृलि। पर यह सगत नहीं है क्योंकि लृ में केवल लकार और स्वरभक्ति ही है न कि रेफ।

६ ह भी स्वरभक्ति है। ह में रेफ लकार का भी बोधक है और हकार उष्म वर्णों का बोधक है। अतः यह सिद्ध होता है कि र और ल से उष्म-वर्ण के परे होने पर दोनों के बीच में स्वर के समान एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वरभक्ति कहते हैं। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा में लिखा है—

“रलाभ्या पर उष्माणो यत्र तु स्यु स्वरदया ।
स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥ १ ॥
स्वरभक्ति प्रयुञ्जानस्त्रीन् दोषान्परिवर्जयेत् ।
इकार चाप्युकारश्च श्रमदोष तर्ध्व च ॥ २ ॥

अर्थात् र और ल से परे उष्म-वर्ण अ, ए, स हो तथा उनसे परे कोई स्वर हो तो वहाँ दोनों के बीच अर्ध अकार की तरह एक ध्वनि उत्पन्न होती है उसे स्वरभक्ति कहते हैं। इस स्वरभक्ति का उच्चारण पूर्व वर्ण रेफ के साथ होता है। स्वरभक्ति का प्रयोग करने वाला इकार, उकार तथा स्थान-करणनिष्पीडनरूप सद्बृत्तता इन तीन दोषों का परित्याग करे। अर्थात् स्वरभक्ति का उच्चारण न अर्ध इकार की तरह, न अर्ध उकार की तरह और न स्थान व करण का निष्पीडन

१ 'स्वरभक्ति' शब्द का अर्थ ही स्वर का भाग है न कि पूरास्वर। अतः वह अर्धमात्रिक ही होती है न कि अकारादि स्वरों की तरह एकमात्रिक।

करते हुए करे अपि तु अर्ध अकार या एकार की तरह करे। इसीलिए—
 “अथापरान्तस्थस्यायुक्तान्यहल सयुक्तस्योष्मऋकाररेकारसहितोच्चारणमेव
 तृतीयान्तस्थस्य” इस कात्यायनीय प्रतिज्ञामून में स्वरभक्ति का उच्चारण एकार
 की तरह बतलाया है। इसी प्रकार ‘^२अहल् श्ल्यूध्वरेफस्य मकार प्राक् च’ इस
 नवाङ्कसूत्र में, ‘^३विहल् श्ल्यूध्वरेफो य संकाग् प्राक् समुच्चरेत्’ इस केशवी-
 वचन में ‘^४रेफो रेकारमाप्नोति शपसहेपु परेषु च’ इस माध्यन्दिनीय वचन में भी
 यही बात बतलायी गयी है।

“रलावृलृदण्णाम्याम्पणि स्वरोदये मबंध” इस प्रातिज्ञारय के अनुसार
 रेफ और लकार से परे उष्म-वर्णों के होने पर दोनों के मध्य अर्धमात्रिक ऋकार
 और लृकाररूप स्वरभक्ति का व्यवधान है। रेफ और उष्मवर्णों के बीच
 विद्यमान उस स्वरभक्ति का उच्चारण रेफ और लकार की तरह होता है अर्थात्
 ऐसे स्थान में द्विरुक्त रेफ और द्विरुक्त लकार का सा उच्चारण होता है।
 जैसे—अश—अरंश, बला—बलशा इत्यादि उदाहरणों में स्पष्ट है। इस
 प्रकार रेफ, लकार और उष्म वर्णों के मध्य स्वरभक्ति का उच्चारण अकार की
 तरह, एकार की तरह, और द्विरुक्त रेफ व द्विरुक्त लकार की तरह मतभेद से
 उच्चारण होता है। किन्तु अथर्ववेदीय इस स्वरभक्ति का उच्चारण इकार की
 तरह करते हैं। जैसा कि माण्डूकी शिक्षा में कहा है—“मम्यगेना यदा पद्येत्
 शतप्रतिशेनि निदर्शनम्”। ऋग्वेदीय इसका उच्चारण उकार की तरह करते हैं
 जैसे रूपदम् = धूरुपदम्। जहाँ उष्म-वर्णों में परे स्वर होता है वही इस
 स्वरभक्ति का उच्चारण होता है और जहाँ व्यजन होता है वहाँ नहीं। जैसे
 वष्म शब्द में उष्म में परे ‘म’ व्यजन के होने से रेफ और ‘प’ के बीच स्वरभक्ति
 का उच्चारण नहीं होता^५।

- १ अय हल वर्णों से असयुक्त तथा श य स ह ऋकार वर्णों से सयुक्त अपरांतस्थ(र) तथा तृतीयान्तस्थ(ल) वर्ण का एकार-सहित उच्चारण होता है।
- २ हल (व्यञ्जन) रहित शलप्रत्याहार (श, य, स, ह,) परे होने पर उनसे पूर्व रेफ का एकार सहित उच्चारण होता है।
- ३ हल-रहित शल प्रत्याहार परे होने पर उससे पूर्व रेफ का एकारसहित उच्चारण होता है और यह एकार पूर्ववर्ती रेफ का अङ्ग होता है।
- ४ श य स ह—इन वर्णों के परे होने पर रेफ का रेकार की तरह उच्चारण होता है।
- ५ इस तम्य का प्रतिपादन याज्ञवल्क्य शिक्षा में ‘स्वरोदया’ पत्र में, प्रतिज्ञा सूत्र में।

रङ्ग

१० 'देवा ॐ एह, महा ॐ असि' इत्यादि मे विशुद्ध आकार से परे नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण रङ्ग कहलाता है। तालुस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नीय मृदु अनुनासिक वर्ण नकार के तालु, मृदु व स्पृष्टत्व गुणका नाश होने से अर्धमात्र उस नकार वर्ण के स्थान मे अर्धमात्र अनुनासिक-विवृतिरूप अकार शेष रह जाता है। व्यजन नकार का पूव स्वर के द्वारा अनुरजन होने से नकार की स्वर की तरह प्रतीति होती है। अत पूर्वस्वररजन के कारण यह नकार रङ्ग कहलाता है। इसे अनुस्वार नहीं कह सकते क्योंकि अनुस्वारस्थल म स्वर और अनुस्वार का अव्यवधान होने से पूव स्वर अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत होता है। जैसे राम हारि, आदि में अकार और इकार अनुस्वार से ग्रस्त प्रतीत हो रहे हैं और रङ्गस्थल मे रग का दीर्घ स्वर से पृथक् उच्चारण होने के कारण स्वर उससे ग्रस्त प्रतीत नहीं होता। अत यह रग वर्ण अनुस्वार से भिन्न है। इसीलिए याज्ञवल्क्य-शिखा मे कहा है—

“रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत् पूवमक्षरम्।

दीर्घं स्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चात्तागिव्यमाचरेत् ॥

रङ्ग वर्ण का प्रयोग करते समय पूव स्वर को रग से ग्रस्त न करे अर्थात् इस प्रकार शीघ्रता से रग-वर्ण का उच्चारण न करे जिससे रगवर्ण के कारण पूर्व स्वर मे ग्रस्तता आ जावे। उसके पहले दीर्घस्वर का प्रयोग करे, पश्चात् नासिक्य रगवर्ण का उच्चारण करे।

अनुस्वार

१३ अ, यहाँ पर स्वर के बाद नासिका मे उच्चायमाण वर्णानुस्वार है।

'अपुक्तायहल' पद से, नवाङ्गुत्तम मे 'अहल गलि' मे 'अहल' पद से, 'विहल्-गलि' इत्यादि केशवोदचन मे विहल पद से किया गया है। 'स्वरोदया' का अर्थ है—शकारादि उष्मवर्णों के बाद स्वर होना चाहिए न कि हल्-वर्ण। 'अपुक्तायहल' का अर्थप्राय है कि शकारादि उष्मवर्ण हल (व्यजन) वर्णों से युक्त नहीं होने चाहिये। अहल् तथा विहल पद का भी यही अर्थप्राय है कि शकारादि वर्ण हल-रहित होने चाहिये, अर्थात् उनका सयोग किसी व्यजन से नहीं होना चाहिए।

यहाँ अनुस्वार की नकार की तरह प्रतीति होता है। किन्तु नकार मृदुस्पृष्ट वर्ण है जब कि अनुस्वार ईगत्स्पृष्ट वर्ण है। अतः यह नकार से भिन्न वर्ण है। य, प, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार का उच्चारण तीन प्रकार का होता है। यहाँ अनुस्वार का नकार-ध्वनि के समान उच्चारण वह्, वृच (ऋग्वेद वाले) करते हैं जैसा कि पाणिनिशिक्षा में कहा है—'श, प, स, ह के परे होने पर तूवीवीणा के शब्द के समान दन्तमूलमात्र से उच्चारित होने वाले स्वरपश्चाद्-भावी अनुस्वार का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—वन्श, कन्स इत्यादि में। यहाँ अनुस्वार के बाद जो 'न्' व्यञ्जन लिखा गया है उसका तात्पर्य यह है कि अनुस्वार दन्त्य-अनुनासिक है, अतः इसका उच्चारण नकार की तरह होता है पर यह नकार नहीं है। अन्य वर्णों के परे होने पर जैसे अनुस्वार का अनुस्वार शब्द से व्यवहार होता है वैसे ही श, प, स, ह इन वर्णों के परे होने पर अनुस्वार-व्यवहार ही होगा। अकार या गुवार आदि अन्य नाम इसका नहीं होगा।

१२ छन्दोगशाखा वाले (सामवेदीय) इस अनुस्वार की मकार के समान ध्वनि मानते हैं और व्यवहार के लिए इसका नाम भवार रखते हैं। जैसा कि नारद-शिक्षा में कहा है

“आपद्यते मकार रेफोऽम्सु प्रत्ययेष्वनुस्वार ।
यवलेपु परसवर्णं म्पुर्गेषु चोत्तमापत्तिम् ॥

अर्थात् रेफ और य, प, स, ह के परे होने पर अनुस्वार को मकार होता है, य, र, ल, व परे होने पर परसवर्ण और स्पर्शवर्णों के परे होने पर उमी स्पर्श का पञ्चम वर्ण होता है। अथवा “अनुस्वार रोऽम्सु मकार ” इस कात्यायन-प्राति-शाख्यमूत्र की एकवाक्यता नारदशिक्षा के साथ मानने पर यहाँ नारदीयशिक्षा के वचन में भी अनुस्वार को मकार ही जाना है इत्यर्थक “आपद्यते मकारो रेफो-ऽम्सु प्रत्ययेष्वनुस्वारम्” यह पाठ मानना होगा। अथवा नारदीय शिक्षा के उत्तर पाठ के अनुस्वार मकार के ज्ञान में अनुस्वार का विधान मानने पर भी उसका अभिप्राय यही माना जायगा कि छन्दोग-मम्प्रदाय के अनुरोध से रेफ उऽम् आदि

१. अन्तादुधीणानिर्घोषो दन्तमूलस्य स्वरानुग ।

अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्यो शयसेषु च ॥ पा० नि०

वर्णों के परे होने पर अनुस्वार की मकार के सदृश ध्वनि होती है। अतः छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुसार 'वम्श, कम्स' ऐसा उच्चारण होता है अर्थात् यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकार के समान है न कि अनुस्वार को मकार ही हो जाता है—यह तात्पर्य है।

१३ उपर्युक्त स्थानों में अर्धव्यु लोप अनुस्वार की ध्वनि मकारसदृश मानते हैं। जैसे— त (ङ्) राम (ङ्) रावणारिम् । मि (ङ्) ह । व (ङ्) श । क (ङ्) स । कण्ठ्य अनुनामिक होने में अनुस्वार के उच्चारण में डकार का आभाममात्र होता है न कि यह डकार हो जाता है। डकारसदृश ध्वनि की व्यवहार के लिए 'गु' सज्ञा की गई है। आज कल तो वेद का उच्चारण करने वाले 'गु' शब्द का ही उच्चारण करते हैं किन्तु यह उनका अज्ञान है। क्योंकि जिस प्रकार अनुस्वार सज्ञाशब्दमात्र है उसी प्रकार 'क्व खु गु घु' ये भी यमो की सज्ञा-मात्र हैं स्वरूपपरक नहीं। 'रवम्प शब्दस्याशब्दसज्ञा' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ शब्द सज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का बोधक नहीं होता है। यमप्रकरण में सज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वारप्रकरण में नहीं, ऐसा भ्रम करना असंगत है, क्योंकि जो अर्थ एक जगह माना जाता है वही अन्यत्र भी मानना चाहिए। अतः एक शास्त्र में जब निर्णय कर लिया गया कि शब्दसज्ञा अपने स्वरूप का बोधक नहीं तो उस शास्त्र में सभी जगह यही सिद्धांत मानना होगा और यदि यमस्थान में गुशब्द का उच्चारण किया जायगा तो गु शब्द के द्विमात्रिक बरण होने से नियताक्षर छन्द का व्राधात होने में कमलोप होने लग जायगा।

'मित्र मसृज्य पृथिवी भूमि च ज्योतिषा मह ।

रद्र मसृज्य पृथिवी बृहज्ज्योति समधिरे ॥

दृहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये ।

अहस, दष्ट्राभ्याम्, मा हिंसी ॥'

इत्यादि में गु शब्द का उच्चारण करने वाली को अमीष्ट छन्द का भगरूप दोष तथा अर्थबोध में क्लेशरूप दोष का भागी बनना पड़ेगा। प्र^१ प्रकार के उच्चारणों में एक पक्ष में व्यवस्थापक शास्त्रों के से वे शास्त्र चरिताथ हो जाते हैं। अतः उन शास्त्रों का गुशब्द तात्पर्य मानना असंगत है और गु शब्द के मे तात्पर्य

'अनुस्वारम्यनुमित्यादेश, शपमहरेफेपु' इस प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द के उल्लेख से गुणवद् स्वरूपपरक है सज्ञापरक नहीं। ऐसा आजकल के वेदपाठियों का कथन भी अज्ञानविजृम्भित है। क्योंकि प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द 'कृ खु गु घु यमा, में उक्त गुणार का स्मारक है, अतः उसका तात्पर्य स्वरूपपरता में नहीं है। अर्थात् जैसे गुण आदि शब्द दममदश उच्चारण के बोधक हैं उसी प्रकार अनुस्वार-शब्द भी अनुस्वारमदश उच्चारण का बोधक है।

वश, हवीपि, कस, सिंह, त रामम् इत्यादि में अनुस्वार का, नकार, मकार और डकार इनमें से किसी एक रूप से उच्चारण प्रकृतिमिद है। किसी वेद में नकार-रूप से किसी में मकाररूप से तथा किसी में डकाररूप से होता है। यह व्यवस्था वेद-भेद से सम्झनी चाहिए।

४ विसर्ग

१४ अ—यह विसर्ग है। यहाँ अकार स्वरमात्र का बोधक है। स्वर के बाद हकार की तरह प्रतीयमान हकारभिन्न विक्षेपक ध्वनि विसर्जनीय या विसर्ग कहलाती है। जैसे—राम, अग्नि आदि में। विसर्ग में हकारमदश ध्वनि है और यह हकार की तरह प्रतीय होता है, पर विसर्ग हकार नहीं है, क्योंकि हकार अधस्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्तिमहित होता है और विसर्ग ईपत्स्पृष्ट प्रयत्नवाला है तथा स्वरभक्ति से रहित है। अतः विसर्ग हकार से पृथक् वर्ग है। जैसा कि कहा है—'जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है उस प्रकार की ध्वनि उष्मा में करनी चाहिए और हकार का परित्याग करना चाहिए। यहाँ हकार-परित्याग का तात्पर्य स्वरभक्ति-परित्याग में है। यह विसर्ग हकार में भिन्न है तथापि उष्म शब्द में इसका व्यन्तार होता ही है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है कि—^३ ओभाव, विवृत्ति, घ, प, स, रेफ, जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय, ये ञ गतियाँ उष्मा की होती हैं।

५ औरस्य उष्मा

१५ ह्र ह्र—ये औरस्य उष्मा कहनाते हैं। यहाँ नकार-मकार और णकार का तथा रेफ-य, व, ल का भी वाक्य है। इसीलिये अभियुक्तों ने कहा है कि—^३

- १ यथा बालस्य सपस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।
एवमुष्मा प्रयोज्यव्यो हकार परियज्येतु ॥
- २ ओभावश्च विवृत्तिश्च शपसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुष्मा ञ गतिरष्टविधोष्मण ।
- ३ हकार पञ्चमेषु रूपेण स्याभिश्च सयुतम् ।

वर्णों के परे होने पर अनुस्वार की मकार के सदृश ध्वनि होती है। अतः छन्दोग-सम्प्रदाय के अनुसार 'वम्श, कम्म' ऐसा उच्चारण होता है अर्थात् यहाँ अनुस्वार की ध्वनि मकार के समान है न कि अनुस्वार को मकार ही हो जाता है—यह तात्पर्य है।

१३ उपर्युक्त स्थानों में अर्धव्यु लोप अनुस्वार की ध्वनि मकारसदृश मानते हैं। जैसे— त (ङ्) राम (ङ्) रावणारिम् । सि (ङ्) ह । व (ङ्) श । क (ङ्) स । कण्ठ्य अनुनासिक होने से अनुरवार के उच्चारण में डकार का आभासमात्र होता है न कि यह डकार हो जाता है। डकारसदृश ध्वनि को व्यवहार के लिए 'गु' मज्ञा की गई है। आज-कल तो वेद का उच्चारण करने वाले 'गु' शब्द का ही उच्चारण करते हैं किन्तु यह उनका अज्ञान है। क्योंकि जिस प्रकार अनुस्वार सज्ञाशब्दमात्र है उसी प्रकार 'कु खु गु घु' ये भी यमो की मज्ञा-मात्र हैं स्वरूपपरक नहीं। 'स्वरूप शब्दस्याशब्दसज्ञा' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ अन्ध सज्ञा होती है वहाँ शब्द अपने स्वरूप का बोधक नहीं होता है। यमप्रकरण में सज्ञाशब्द स्वरूप का बोधक होता है, अनुस्वारप्रकरण में नहीं, ऐसा भ्रम करना असंगत है, क्योंकि जो अर्थ एक जगह माना जाता है वही अन्यत्र भी मानना चाहिए। अतः एक शास्त्र में जब निर्णय कर लिया गया कि शब्दसज्ञा अपने स्वरूप का बोधक नहीं तो उस शास्त्र में सभी जगह यही सिद्धांत मानना होगा और यदि यमस्थान में गुशब्द का उच्चारण किया जायगा तो गु शब्द के द्विमात्रिक वर्ण होने से नियताक्षर छन्द का व्याधात होने में कमलोप होने लग जायगा।

'मिन्न ममृज्य पृथिवी भूमि च ज्योतिषा सह ।

रद्र ममृज्य पृथिवी बृहज्ज्योति समधिरे ॥

ह्रस्व देवि पृथिवि स्वस्तये ।

अहस, दप्ताम्याम, मा हिंसी ॥'

इत्यादि में गु शब्द का उच्चारण करने वालों को अभीष्ट छन्द का भगरूप दोष तथा अर्थबोध में क्लेशरूप दोष का भागी बनना पड़ेगा। प्रकृतिसिद्ध तीन प्रकार के उच्चारणों में एक पक्ष में व्यवस्थापक शास्त्रों का तात्पर्य मानने से वे शास्त्र चरिताय हो जाते हैं। अतः उन शास्त्रों का गु शब्द के उच्चारण में तात्पर्य मानना असंगत है और गु शब्द के उच्चारण में तात्पर्य मानना शास्त्रानुसारी भी नहीं है।

‘अनुस्वारस्यगुमित्यादेश, शपमहरेफेपु’ इस प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द के उल्लेख से गु-शब्द स्वरूपपरक है सज्ञापरक नहीं। ऐसा आजकाल के वेदपाठियों का कथन भी अज्ञानविजृम्भित है। क्योंकि प्रतिज्ञासूत्र में इति शब्द ‘कु सु गु घु यमा, मे उक्त गुकार का स्मारक है, अतः उसका तात्पर्य स्वरूपपरता में नहीं है। अर्थात् जैसे गु आदि शब्द दशमदश उच्चारण के बोधक हैं उसी प्रकार अनुस्वार-शब्द भी अनुस्वारदश उच्चारण का बोधक है।

वश, हवीपि, कम, सिंह, त रामम् इत्यादि में अनुस्वार का, नकार, मकार और ङकार इनमें से किसी एक रूप से उच्चारण प्रकृतिमिद्ध है। किसी वेद में नकार-रूप से किसी में मकाररूप से तथा किसी में ङकाररूप से होता है। यह व्यवस्था वेद-भेद से समझनी चाहिए।

४ विसर्ग

१४ अ—यह विसर्ग है। यहाँ अकार स्वरमान का बोधक है। स्वर के बाद हकार की तरह प्रतीयमान हकारभिन्न विक्षेपक ध्वनि विसर्जनीय या विसर्ग कहलाती है। जैसे—राम, अग्नि आदि में। विसर्ग में हकारदश ध्वनि है और यह हकार की तरह प्रतीत होता है, पर विसर्ग हकार नहीं है, क्योंकि हकार अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाला है तथा स्वरभक्तिमहित होता है और विसर्ग ईपत्स्पृष्ट प्रयत्नवाला है तथा स्वरभक्ति से रहित है। अतः विसर्ग हकार से पृथक् वर्ण है। जैसा कि कहा है—‘जैसे लघुचित्त वाले छोटे सर्प का उच्छ्वास होता है उस प्रकार की ध्वनि उष्मा में करना चाहिए और हकार का परित्याग करना चाहिए। यहाँ हकार-परित्याग का तात्पर्य स्वरभक्ति-परित्याग में है। यह विसर्ग हकार में भिन्न है तथापि उष्मा शब्द में इसका व्यवहार होता ही है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है कि—^२ ओभाव, विवृत्ति, श, य, स, रेफ, जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय, ये = गतिर्था उष्मा की होती हैं।

५ औरस्य उष्मा

१५ ह्र ह्र—ये औरस्य उष्मा कहनाते हैं। यहाँ नकार-मकार और णकार का तथा रेफ-य, व, ल का भी बोधक है। इसीलिये अभियुक्तों ने कहा है कि—^३

- १ यथा बालस्य सर्पस्य उच्छ्वासो लघुचेतस ।
एवमुष्मा प्रयोक्तव्यो ङकार परियजयेत् ॥
- २ ओभावश्च विवृत्तिश्च शपसा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ।
- ३ हकार पञ्चमेषु क्तमत्त स्यान्निश्च सयुतम् ।

वर्गों के पचम वर्णों से तथा अन्त स्थ य, र, ल, व मे युक्त हकार औरस्य कहलाता है, तथा इनसे असयुक्त हकार वण्ठ्य कहलाता है। औरस्य हकार के उदाहरण-पूर्वाह्नि, वह्नि, ब्रह्मा, मह्यम्, ह्रद, ह्लाद, विह्वल आदि हैं।

६ जिह्वामूलीय व उपध्मानीय

१६ ङ क ङ ख म क व ख से पूर्व जो हकार सदृश ध्वनि है, उसे जिह्वामूलीय कहते हैं। ङ प ङ फ—इस प्रकार प और फ से पूर्व हकारसदृश ध्वनि को उपध्मानीय कहते हैं। क्रमशः क ङ कवि, क ङ खल, क ङ पदु, क ङ फली इनके उदाहरण हैं।

७ यम

१७ नासिक्यभिन्न स्पर्श से नासिक्यस्पर्श के परे होने पर मध्य मे पूर्वसदृश वण जो कि अनासिक्य व नासिक्य मे भेद करता हुआ उच्चारित होता है, उसे यम कहते हैं। वे स्पर्शवण स्थान व करण के स्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्वभाव है। किन्तु स्पर्शवर्णों के बाद जब यम-वर्ण होता है तो वह स्थान और करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न होता है और पूर्वस्पर्शवण के सदृश होता है। वह यम अर्थात् स्थान और करण के स्पर्श की विरति या विच्छेद से उत्पन्न होता है, अतः इसे यम कहते हैं। इस प्रकार स्थान-करण के स्पर्श के विच्छेद से उत्पन्न प्रतिध्वनि यद्यपि पद के अन्त में और अन्त स्थ वण तथा पञ्चम वर्णों के परे होने पर उत्पन्न होती है। जैसे— रामात्, शुक्, अग्नि इत्यादि मे। तथापि वर्गों के पचम वर्ण के परे होने पर नासिक्यता क वलक्षण्य के द्वारा यह प्रतिध्वनि यम-नामक पृथक् वण मानी जाती है। जैसे वृक्वण, पलिक्वनी, रुक्मम्, रत्नम्, आत्मा, स्वप्न, पाप्मा इत्यादि मे द्वितीय स्पर्शवण जो कि अनुनासिक से पूर्व है, यम है। ये यम वर्णों के पञ्चम वर्ण मे पूर्व-वर्णों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्शवर्ण हैं, ये सस्या म २० हैं। अतः २० यम कहलाते हैं ऐसा एकदेशी का मत है। कुछ का कहना है कि क, ख, ग, घ ये चार ही यम हैं। कतिपय आचार्यों का मत है कि द्वित्वसिद्ध चार वर्ण ही यम हैं, तन्तिरीयो का मत है कि यम वण का आगमरूप है। आत्क्नी सक्वना, यज्ञ म क और ड जो कि वर्णागम हैं, यम है। 'ड' रूप यम परे होने पर उसके प्रभाव से ज को ग ही जाता है। अतः यज्ञ-शब्द मे गकार डकार व अकार का संयोग है। यज्ञ-शब्द में आर्य उच्चारण के बाहुल्य से यमसहित उच्चारण करने वाला

सम्प्रदाय ही चल गया है। केवल लोक में प्रयुक्त शब्दों में यममहित उच्चारण करने का सम्प्रदाय नहीं चला है। जैसे—‘याच्ञा’ शब्द का यमरहित ही उच्चारण होता है। इसलिए यहाँ डकार यम के अभाव में तत्प्रभावजन्य च को क नहीं हुआ है। कुछ को ऐसी मान्यता है कि ‘राज्ञ’ में जकार व अकार के मध्यवर्ती यम जकार को ञ के प्रभाव से प्राप्त तालुस्पृष्ट नासिक्यता के प्रयत्नविरोध द्वारा न होने से उसके स्थान का परिवर्तन होकर द्रुति के कारण ग हो जाता है, और गकार के परे होने से पूर्व जकार को भी ग हो जाता है। यदि यह कहे कि जकार तालुस्पृष्ट नासिक्य वर्ण जब विद्यमान है तो प्रयत्न का विरोध न होने से ज को ञ होने में क्या आपत्ति है तो यह भी सगत नहीं, क्योंकि ञ के नासिक्य दन्तस्थ वर्ण होने से वह ईपत्स्पृष्टप्रयत्न वाला है और वर्णगम जकार रूप यम स्पृष्टप्रयत्न वाला है, इस प्रकार प्रयत्न-विरोध विद्यमान है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि न तो वीस यम हैं और न चार और न यम वर्ण ही है, किन्तु यम अशरीर है, अतः उमका उच्चारण नहीं होता। अतः ‘अमोधनन्दिनीकार ने स्पष्ट कहा है कि ‘समाञ्जिम’ में दो जकार एक मकार और एक मकार के ऊपर विद्यमान रेफ है, अतः यम को अशरीर मानना चाहिए। कात्यायन ने भी कहा है कि पञ्चम वर्णों के परे होने पर पञ्चमेतर वर्ण विच्छेद को प्राप्त होते हैं। यह विच्छेद ही यम है। अतः एव यह अशरीर है। अतः ‘रुक्म’ इत्यादि में क को द्वित्व होने पर उसके पश्चात् पञ्चम वर्ण से पूर्व नासिक्य तथा अनासिक्यवर्णों के विरोध के फलस्वरूप दोनों के मध्य यति (विरति, विच्छेद) उत्पन्न होता है। यह विच्छेद ही यम है। अतः यम कोई वर्ण नहीं है।

विभिन्न उच्चारण-सम्प्रदायों के कारण यम के विषय में चार मत हैं। चारों ही मतों में पूर्व अक्षर के होने पर यम होता है अन्यथा नहीं। अतः सिद्धान्तकीमुदी में यम का जो उदाहरण ‘घ्नन्ति’ दिया है, उसे ‘निघ्नन्ति’ समझना चाहिए। अन्यथा पूर्व अक्षर के न होने में वह यम का उदाहरण नहीं बनेगा। ज्ञान-शब्द में यम नहीं है। ज्ञा-घातु में गकार तथा अनुनासिक एव तालव्य ईपत्स्पृष्ट प्रयत्न वाला अकार है न कि यम। इस प्रकार ६७ अक्षरों का यह आर्ष वर्णसामान्य है।

१ जकारों में मकारद्वय रेफस्तदुपरि स्थित ।
अशरीर यम विद्ययात् समाञ्जिमीति निबन्धनम् ॥

कितने ही निम्न, यौगिक तथा अयोगवाहो मे भिन्न ६० श्रौपपा और मानते हैं। उनको मिलाने से १८७ वण छ दोभाषा में होते निम्नलिखित हैं।

(२) अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३

इस प्रकार ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से भावो स्वर १४ हैं। लृ नहीं होता।

(३) ए	ए ३	ऐ	ऐ ३
ओ	ओ ३	औ	औ ३

(४) उपर्युक्त दोनो प्रकार के स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद प्रकार के है अत ६६ स्वर हो जाते हैं। इन सबमे शुद्धस्वरत्व, विवृत अस्पृष्टत्व-साधर्म्य है। लृकार प्लुत भी होता है अत इसके ३ भेद और मे बढ जाते हैं।

(५) रल-पूर्वक उष्मवर्ण तथा ऋ, लृ म स्वरभक्ति भी होती है। जैसे- हर्ष, अर्ह इनमें रेफ और उष्मवर्णों के बीच स्वरभक्ति है। ऋ और लृ स्वरभक्तियों के बीच रेऊ और लकार है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है 'ऋवर्ण और लृवर्ण म क्रमश दो रेऊ व दो लकार हैं वे मिले हुए हैं।

(६) ऽ य र ल व—ये ५ ईपत्स्पृष्ट, अल्प स्य, ईपभाव प्रयत्न वाले इन पाँचों में पहला वर्ण ऽ विवृति है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा 'जहाँ दो त्वरो के मन्त्र सन्धि नहीं है वहाँ विवृति समझनी चाहिए। य इसका उदाहरण है।

(७) अ, य, इ, ऊ, व—ये पाँच वर्ण दु स्पृष्ट अल्पस्य है। इनमें प्रथम वर सवृत अकार है। ह्रस्व अकार का परिनिष्ठित (सिद्ध) अवस्था में सवृत तथा प्रक्रियादशा में विवृत प्रयत्न होता है। ऋषी ने जो यह कहा है कि शब्द में यकारान्धानोय, यकार के विकार से अन्य सवृत अकार है और उ

१ ऋत्वर्ण रेफन्वरो सन्विष्टावधुनिपरावेदकन्तो । वा.प्रा ४ १४६
२ इपोल स्वरलोभो ज्ये सन्विष्टावधुनिपरावेदकन्तो । वा.प्रा ४ १४६

यहाँ विवृत है। इसीलिये भिन्न प्रयत्न होने से यहाँ सन्धि नहीं हुई है—वह असंगत है। क्योंकि यकारस्थनीय विवृति मानने पर भी सन्धि का अभाव सिद्ध हो सकता है। अतः सन्ध्यभाव के लिए प्रयत्नभेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुतस्तु 'प्रउगम्' में ईपत्स्पृष्ट यकार को प्लुति-प्रतिक्षेप के कारण यकार हो जाता है और सजातीय उकार से उसका अभिभव हो जाने से अभिव्यक्ति नहीं होती और उसका लोप हो जाता है।

अतः यकार के स्थान में सवृत अकार व विवृत अकार का आदेश मानने की आवश्यकता नहीं है। प्र शब्द का अकार यहाँ सवृत है और उकार विवृत है। अतः प्रयत्नभेद के कारण सन्धि नहीं होती।

(८) दु स्पृष्ट य और व की स्थिति पद के आदि में तथा य र ह और अनुस्वार से पूर्व होने पर होती है। दु स्पृष्ट य, व के उच्चारण में ईपत्स्पृष्ट यकारादि की अपेक्षा अधिक स्पर्श तथा स्पृष्ट वर्णों की अपेक्षा अल्प स्पर्श होता है, अतः इन दोनों प्रकार के वर्णों की प्रतीति यहाँ होती है। जैसा प्रतिज्ञासूत्र में कहा है— 'अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहल्सयुक्तासयुक्तस्य रेफोष्मान्याभ्यामृकारेण चाविशेषणादिमध्यावसानेषु उच्चारणे जकारोच्चारणं द्विभविऽप्येवम्।' इति

यहाँ लघु प्रयत्नतर यकार का जकार के समान उच्चारण बतलाते हुए कात्यायन को यकार व जकार का मध्यमवृत्ति से उच्चारण अभीष्ट है। नारद ने भी कहा है—^१

पाद के आदि में, पद के आदि में, सयोग में, अवग्रह में, 'ज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्यत्र य-शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ ज-शब्द से—जिसमें जकार की सी प्रतीति होती है ऐसा उच्चारण अभिप्रेत है न कि जकार का उच्चारण ही अभिप्रेत है। यदु, यम शय्या, निकाय्यम्, सूर्य, वीर्यम् आदि इसके क्रमशः उदाहरण हैं। आन्तय्यम् में भिन्न स्थिति वाले रेफ और यकार के सयोगों के उच्चारणक्रम में जो भेद दिखाई देता है, तब रेफ का पूर्वाङ्गत्व व पराङ्गत्व यकार के ईपत्स्पृष्ट व दु स्पृष्ट होने में कारण है। जहाँ

१ पावादी च पदादी च सयोगावग्रहेषु च ।

ज शब्द इति जेयो योऽय स य इति स्मृतः । नारद शिक्षा ।

कितने हो निरूढ, यौगिक तथा अयोगवाहो से भिन्न ६० औपपादिक वर्ण और मानते हैं। उनको मिलाने से १८७ वर्ण छन्दोभाषा में होते हैं। वे निम्नलिखित हैं।

(२) अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३

इस प्रकार ह्रस्व दोष प्लुत भेद से भावो स्वर १४ हैं। लृवर्णो दीघ नहीं होता।

(३) ए	ए ३	ऐ	ऐ ३
ओ	ओ ३	औ	औ ३

(४) उपर्युक्त दोनो प्रवार के स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद से तीन प्रकार के हैं अतः ६६ स्वर हो जाते हैं। इन सबमे शुद्धस्वरत्व, विवृतत्व तथा असृष्टत्व-साधर्म्य है। लृकार प्लुत भी होता है अतः इसके ३ भेद और इस मत में बढ़ जाते हैं।

(५) रल-पूर्वक उष्मवर्ण तथा ऋ, लृ मे स्वरभक्ति भी होती है। जैसे—स्पर्श, ह्रस्व, अर्ह इनमे रेफ और उष्मवर्णों के बीच स्वरभक्ति है। ऋ और लृ मे दो स्वरभक्तियों के बीच रेफ और लकार है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—
‘ऋवर्ण और लृवर्णो मे क्रमश दो रेफ व दो लकार है वे मिले हुए हैं।’

(६) ऽ य र ल व—ये ५ ईपत्सृष्ट, अन्तस्थ, ईपन्नाद प्रयत्न वाले हैं। इन पाँचों में पहला वर्ण ऽ विवृति है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—
‘जहाँ दो स्वरो के मध्य सन्धि नहीं है वहाँ विवृति समझनी चाहिए। य ऽ ईश इसका उदाहरण है।’

(७) अ, य, ङ, ळ, व—ये पाँच वर्णो दु सृष्ट अन्तस्थ है। इनमे प्रथम वर्ण ‘अ’ सबृत अकार है। ह्रस्व अकार का परिनिष्ठित (सिद्ध) अवस्था में सबृत प्रयत्न तथा प्रक्रियादशा मे विवृत प्रयत्न होता है। किसी ने जो यह कहा है कि प्रउग शब्द में यकारस्थानीय, यकार के विकार से उत्पन्न सबृत अकार है और उकार

१ ऋलृवर्णो रेफलकारो सौमिल्यादधुतिधरावेकवर्णो। का प्रा ४/१४६

२ इयोस्तु स्वरयोमप्ये सौमिल्ये न ह्यप्यते।

विवृतिस्तत्र विनोया य ऽ इति निवृत्तम् ॥

यहाँ विवृत है। इसीलिये भिन्न प्रयत्न होने से यहाँ सन्धि नहीं हुई है—वह असंगत है। क्योंकि यकारस्थनीय विवृति मानने पर भी सन्धि का श्रभाव सिद्ध हो सकता है। अतः सन्ध्यभाज के लिए प्रयत्नभेद मानने की आवश्यकता नहीं।

वस्तुतः 'प्रउगम्' में ईपत्स्पृष्ट यकार को प्लुति-प्रतिक्षेप के कारण वकार हो जाता है और सजातीय उकार से उसका अभिभव हो जाने से अभिव्यक्ति नहीं होती और उमका लोप हो जाता है।

अतः यकार के स्थान में सवृत अकार व विवृत अकार का आदेश मानने की आवश्यकता नहीं है। प्र शब्द का अकार यहाँ सवृत है और उकार विवृत है। अतः प्रयत्नभेद के कारण सन्धि नहीं होती।

(८) दु स्पृष्ट य और व की स्थिति पद के आदि में तथा य र ह और अनुस्वार से पूर्व होने पर होती है। दु स्पृष्ट य, व के उच्चारण में ईपत्स्पृष्ट यकारादि की अपेक्षा अधिक स्पर्श तथा स्पृष्ट वर्णों की अपेक्षा अल्प स्पर्श होता है, अतः इन दोनों प्रकार के वर्णों की प्रतीति यहाँ होती है। जैसा प्रतिज्ञासूत्र में कहा है— 'अयान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहलस्युक्तामयुक्तस्य रेफोऽप्या न्त्याभ्यामुकारेण चाविशेषणादिमध्यावसानेषु उच्चारणे जकारोच्चारणं द्विभविऽप्येवम्।' इति

यहाँ लघु प्रयत्नतर यकार का जकार के समान उच्चारण बतलाते हुए कात्यायन को यकार व जकार का मध्यमवृत्ति से उच्चारण अभीष्ट है। नारद ने भी कहा है—

पाद के आदि में, पद के आदि में, सयोग में, अवग्रह में, 'ज' शब्द का प्रयोग करना चाहिए तथा अयत्र य-शब्द का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ ज-शब्द से—जिसमें जकार की भी प्रतीति होती है ऐमा उच्चारण अभिप्रेत है न कि जकार का उच्चारण ही अभिप्रेत है। यदु, यम शब्दा, निवाय्यम्, सूर्य, वीर्यम् आदि इसके क्रमशः उदाहरण हैं। आन्तर्ग्रंथ में भिन्न स्थिति वाले रेफ और यकार के सयोगों के उच्चारणक्रम में जो भेद दिखाई देता है, तब रेफ का पूर्वाङ्गत्व व पराङ्गत्व यकार के ईपत्स्पृष्ट व दु स्पृष्ट होने में कारण हैं। जहाँ

१ पादादौ च पदादौ च सयोगावग्रहेषु च ।

ज शब्द इति जेयो योऽ य स य इति स्मृतः । नारद शिक्षा ।

रेफ पूर्वाङ्ग है वही यकार दु स्पृष्ट है। अर्थात् 'आन्नय्यम्' में रेफ यकार का तथा यकार मकार का संयोग है। इनमें रेफ जब पूर्व अक्षर का अङ्ग होता है, तब दु स्पृष्ट यकार का उच्चारण होता है और जब रेफ पर अक्षर का अङ्ग होता है, तब ईपत्स्पृष्ट यकार का उच्चारण होता है। गह्य, वाह्यम्, ग्रह्यु ग्यु इन उदाहरणों में यकार के दु स्पृष्ट होने पर अनुस्वार अथवा अनुनासिक यकार का उच्चारण होता है, और जो यहाँ यकार को ईपत्स्पृष्ट मानते हैं उनके मत में 'शःभ्यु' इस प्रकार का उच्चारण होता है।

वर, वीर, वाय्वो, सब विह्वल, शबूव आदि में दु स्पृष्ट वकार की स्थिति पदादि की तरह पदमध्य में तथा संयोगादि में भी है। देव, शिव, वाय्व, भव्यम्, यम्या, यद्यपि इत्यादि में तथा विश्व, विद्वान् इत्यादि में प्रथम यकार व वकार गुरु प्रयत्न वाले होने से दु स्पृष्ट होते हैं और द्वितीय यकार-वकार लघु प्रयत्न वाले होने से ईपत्स्पृष्ट हैं।

(९) पद के आदि में तथा संयोग के आदि में दु स्पृष्ट डकार नहीं होता। डमरु कुड्य, वड्र आदि इसके उदाहरण हैं। कुड्मल आदि में कही नहीं स्पृष्ट व दु स्पृष्ट डकार का विकल्प है। दो स्वरो के मध्य में दु स्पृष्ट 'ड' का उच्चारण होता है। जैसे निगड में। वेद में दो स्वरो के मध्य में ड को ङ हो जाता है। जैसे 'अग्निमीळे' आदि में। माध्यन्दिन शाखा वालों के लिये यह नियम नहीं है।

(१०) ह, श, प, स, ह ये पाँच ऊष्म-वर्ण ईपच्छवास तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। इनमें आदि और अन्त के हकार क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हैं। जिह्वामूलीय तथा कण्ठ्य हकारों का उत्पत्तिस्थान देश समान है, अतः कण्ठ्य हकार का भी जिह्वामूलीय हकार से ग्रहण होना है। हकार के पाँच स्थान हैं—कण्ठस्थानीय तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न वाले वर्णों से पूर्व हकार जिह्वामूलीय कहलाता है। जैसे ह्रस्व ख से क व ख से पूर्व हकार का कण्ठस्थान तथा तीव्र स्पृष्ट प्रयत्न है। वही हकार जब ओष्ठस्थानीय तीव्रस्पृष्टप्रयत्न वाले वर्णों से पूर्व होता है, तब उपध्मानीय कहलाता है। जैसे ह्रस्व प व फ से पूर्व हकार उपध्मानीय है क्योंकि यहाँ हकार कण्ठस्थानीय क ख वर्णों से पूर्व न होकर ओष्ठस्थानीय प फ से पूर्व है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उच्चारण में समानता होने पर भी स्थानभेद के कारण उन्हें भिन्न वर्ण माना

जाता है। जब हकार मुयमव्यभागस्थानीय एव अर्धस्पृष्ट प्रयत्न जाने शकरादि वर्णों से पूर्व होता है, तब वह विसर्जनीय कहलाता है। जैसे 'क शम, क पडङ्ग, क सुत आदि उदाहरणों में। अन्त में भी हकार विसर्ग ही कहलाता है। जैसे—'क' इम उदाहरण में। नासिक्य अन्तस्य वर्ण के परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जैसे—ह्, ह् इन उदाहरणों में। शिक्षाकार 'अयोगवाहो को आश्रयस्थानभागी मानते हैं। अतः अकार व ऋकार से परे विसर्ग कण्ठ्य, इकार ऐकार से परे तालव्य, उकार औकार से परे ओष्ठ्य, एकार में परे कण्ठतालव्य, ओकार से परे कण्ठीष्ठ्य माना जाता है। तथा पूर्वस्वरस्थानभागी होने से स्वरभक्ति के भी पूर्व स्वर के स्थानभेद से विभिन्न स्थान होते हैं। अर्थात् पूर्वस्वर का जो स्थान होता है वही स्थान उसके बाद आने वाली स्वरभक्ति का होता है। अतः विसर्ग की तरह विभिन्न स्वरो से परे आने वाली स्वरभक्ति के भी स्थान बदलते रहते हैं देवँ सह, मति सा हि, मर्वँ सा हि, पद्मु स, नौ सह, मते साधो, माधो सहोवत् इत्यादि क्रमशः उसके उदाहरण हैं। विसर्ग और स्वरभक्तियों के उच्चारणक्रम में इस भेद का निदर्शन लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा में किया गया है। नासिक्य तथा अन्तस्य वर्ण परे होने पर हकार औरस्य कहलाता है। जैसे ह्, ह्, ह्, ह्, ह्, ह्, ह् आदि में। अस्पृष्ट वर्ण परे होने पर हकार कण्ठस्थानीय माना जाता है। जैसे सह-सहितो हुतो हृदि। इन पाँचों प्रकार के हकारों में उच्चारण की तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न की समानता है।

(११) मुख में प्रथम, मध्यम, उत्तम भेद से तीन स्थान हैं। उर, कण्ठ तथा कर्णमूल ये तीन स्थान प्रथम स्थानत्रय कहलाते हैं। तालुमूल, मूर्धा तथा दन्त-मूल ये तीन स्थान मध्यम स्थानत्रय हैं और मृक्का, उपध्मा तथा ओष्ठ ये तीन स्थान उत्तम स्थानत्रय कहलाते हैं। उनमें प्रथम तीनों स्थानों (उर, कण्ठ, कर्ण-मूल) में और उत्तम तीन स्थानों (मृक्का, उपध्मा, ओष्ठ) में ऊष्म-वर्णों का अर्धस्पृष्ट प्रयत्न होने पर भेदाभिव्यक्तिरहित 'ह' ऐसा समान ही रूप रहता है। तालुमूल, मूर्धा, दन्तमूल इन तीन मध्यम स्थानों में अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले उत्प—

१ अयोगवाहो विज्ञेया आश्रयस्थानभागी । इति । पा० शि० ।

२ अविद्यमानो योग प्रत्याहारेषु सम्भ्रजे येषां ते अयोगा अनुपदिष्टत्वात् उपदिष्टं रगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धस्य इत्यपि । सि को षत्वबोधितो ।

वर्णों का हकार से भेद होने पर भी अत्यल्पभेदयुक्त समान मा रूप रहता है। जैसे—श, ष, स। इन तीनों म मध्यम भूयन्व्य प्रकार का वर्ग द्वितीय वर्ण (ग) के समान उच्चारण माध्यन्दिनशाखा वाले करते हैं। जैसा कि केशवी—सूत्र में कहा है—प सप्तमृते च। प का स के समान उच्चारण करने में वे कोई प्रयत्नशेष आदि कारण नहीं मानते हैं। वे प का ख की तरह उच्चारण करते हैं पर लिपि में 'प' ही मानते हैं। उममें कोई परिवर्तन नहीं करते।

(१२) एकस्वरभक्ति, दश अक्षर, आठ ऊष्मवर्ण इन १६ वर्णों का, जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों के धर्म मिलते हैं, अल्पस्पृष्टत्व तथा अल्पविवृतत्व साधर्म्य है।

(१३) ग ज ड द व ये पाँच वर्ण धोप, सवृत, ईपन्नाद तथा स्पृष्ट हैं। क च ट त प ये पाँच वर्ण अधोप, विवृत, ईपच्छ्वास तथा स्पृष्ट हैं। इन दसों व्यंजनों में पूर्णस्पृष्टत्व, अल्पप्राणत्व तथा निरनुनासिकत्व-साधर्म्य (समान धर्म) हैं।

(१४) ङ ञ—ये दो वर्ण दु स्पृष्ट हैं। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—ङ ङ किन्ही के मत में ङ, ञ बन जाते हैं। किन्तु ङ, ङ जब स्वरों के मध्य में हो तथा समान पद में हो तभी ङ ञ बन जाते हैं। जैसे—अपाढा-अपाढा। माध्यन्दिनशाखा वाले ङ ञ को नहीं मानते हैं।

(१५) घ, ङ, ङ, घ, भ—ये पाँच वर्ण नाद, सवार व धोप हैं।

ख, छ, ठ, थ, फ—ये पाँच वर्ण श्वास, विवार व अधोप हैं।

इन १२ वर्णों—ङ, ङ, घ, ङ, घ, भ, ख, छ, ठ थ, फ का स्पृष्टत्व, सोष्मत्व व महाप्राणत्व साधर्म्य है। र, ल ङ, ए, न, म आदि भी सोष्म वर्ण हैं, किन्तु छन्दोभाषा में इन्हें सोष्म नहीं कहा है। अतः उनका यहाँ निरूपण नहीं किया है।

(१६) अ ई ऋ लृ उँ—ये ५ नासिक्यभावी स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत-भेद से चौदह हैं, क्योंकि लृ दीर्घ नहीं होता, नहीं तो १५ होते। विशुद्ध विवृत अक्षर मूल-प्रकृति होने से भावी नहीं है किन्तु अनुनासिक अक्षर के भावी होने में कोई बाधा नहीं है।

एँ ऐँ ओँ औँ—ये चार नासिक्य सघ्यक्षर स्वर, दीर्घ, प्लुत भेद से ८ हैं क्योंकि ये कभी ह्रस्व नहीं होते। ये सघ्यक्षर होने से द्विमात्रिक हैं और

ह्रस्व एकमात्रिक होता है। १४ प्रकार के नासिक्य भावी स्वर तथा ८ प्रकार के नासिक्य सायक्षर सभी उदात्त अनुदात्त स्वरित भेद से तीन प्रकार के हैं अतः मिलाकर नासिक्य भावी स्वरों तथा नासिक्य मन्थक्षरों की सरया २६ हो जाती है। इन सबका अनुनासिकत्व, अस्पृष्टत्व तथा विवृतत्व साधम्य है।

(१६) ण—यह स्वर से उत्तर अनुस्वार वण है।

आ २— यह विशुद्ध दीर्घ स्वर से उत्तर रङ्ग वण है।

यै वै लौ—ये तीन अन्तस्थवण ३।

कु खु गु घु—ये चार यमवण हैं।

ड अ ण न म—ये पाँच वण नाद, सवार व घोष है।

इन उपर्युक्त चौदह वणों का नासिक्यत्व-साधम्य है। यहाँ अतपप्राण, घोष, स्पृष्ट, दु स्पृष्ट व ईपत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले तालव्य वणों-ज य य का अनुनासिक होने पर समान ही उच्चारण होता है। अतः अनुनासिक ईपत्स्पृष्ट से नासिक्य चवग-पञ्चम ङकार पृथक् वण नहीं है तथापि चिरतन लोकव्यवहार के अनुरोध से उसे यहाँ वणान्तर कह दिया गया है। मूलमध्य-भागस्थ तालव्य, मूधन्य तथा दत्य अनुनासिक वणों (अ, ण, न,) का मृदुस्पृष्ट वण (ज, ड, द) तथा त अस्पृष्ट वण (च, ट, त) परे होने पर अनुस्वार की तरह समान ही उच्चारण होता है। जमे—मञ्जार सञ्जय, कण्टकम्, काण्ड, दत्त, रून्द मे। तथापि अस्पृष्ट व ईपत्स्पृष्ट वण परे होने पर गुण, गुण्य आदि शब्दों में विशेषता की उपलब्धि होने से एतार को गलग वण मानना उचित है। अनुस्वार, विमग, जिह्वामूलीय, उपभ्रानीय व यमवणों न अयोगवाहत्व-साधम्य है। इस प्रकार छन्दोभाषा में १८ वण हैं। जो यनों को २० मानते हैं उनके मत में २०३ वण हो जाते हैं। इस प्रकार ६७, १८७ अथवा २०३ वण छन्दोभाषा में मतभेद से हैं। यह आर्षेयी वर्णमातृका पथ्यास्वस्ति कहलाती है।

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय

ब्राह्म वर्णसमाम्नाय में सक्षेपत ६४ वण हैं। जैसा कि पाणिनीय शिक्षा में कहा है— 'प्राकृत व मस्कृत में ब्रह्म के द्वारा स्वयं प्रोक्त ६३ या ६४ वण हैं।

(१) त्रिपष्टिर्वा चतुःपष्टिवर्णं समवतो मता ।

प्राकृते मस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा ॥

वर्णों का हकार मे भेद होने पर भी अत्यल्पभेदयुक्त समान गा रूप रहना जमे—श, प, स । इन तीनों म मध्यम मूर्धन्य पकार का वर्ग द्वितीय (स) के समान उच्चारण माध्यन्दिनशाखा वाले करते हैं । जैसा कि वैश्वी सूत्र म कहा है—प सप्तमृते च । प का स के समान उच्चारण करने में कोई प्रयत्नरूप आदि कारण नहीं मानते हैं । वे प का स की तरह उच्चारण करते है पर लिपि म 'प' ही मानते है । उगम कोई परिवर्तन नहीं करते ।

(१२) एकस्वरभक्ति, दश अन्त स्य, आठ ऊमवण इन १६ वर्णों का, जि स्वर् और व्यजन दोनों के धर्म मिलते हैं, अल्पस्पृष्टत्वं तथा अल्पविवृत साधर्म्य है ।

(१३) ग ज ङ ढ न ये पाँच वर्णों घोष, सवृत, ईपन्नाद तथा स्पृष्ट हैं । क च त प ये पाँच वर्णों अघोष, विवृत, ईपच्छ्वास तथा स्पृष्ट हैं । इन दसों व्यंजनों में पूर्णस्पृष्टत्व, अल्पप्राणत्व तथा निरनुनासिकत्व-साधर्म्य (समान धर्म) हैं ।

(१४) ङ ळह—ये दो वर्णों दु स्पृष्ट हैं । जैसा कि कात्यायन ने कहा है—किन्ही के मत मे ङ, ळह बन जाते हैं । किन्तु ङ, ङ जब स्वरो के मध्य मे तथा समान पद म हो तभी ङ ळह बनजाते है । जैसे—अपाढा-अपाढ् ह माध्यन्दिनशाखा वाले ळह को नहीं मानते है ।

(१५) घ, ङ, ङ, घ, भ—ये पाँच वर्णों नाद, सवार व घोष है ।

ख, छ, ठ, ध, फ—ये पाँच वर्णों श्वास, विवार व अघोष है ।

इन १२ वर्णों ङ, ळह, घ, ङ, ङ, ख, छ, ठ घ, फ का स्पृष्टत्व सोष्मत्व व महाप्राणत्व साधर्म्य है । र, ल ड, ण, न, म आदि भी सोष्म वर्णों है, किन्तु छन्दोभाषा मे इन्हे सोष्म नहीं कहा है । अत उनका स्पृष्टत्व निरूपण नहीं किया है ।

(१६) अँ ईँ ऋँ लृँ उँ—ये ५ नासिक्यभावी स्वर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत-भेद मे चीते हैं, क्योंकि लृ दीर्घ नहीं होता, नहीं तो १५ होते । विशुद्ध विवृत अकार म प्रकृति होने से भावी नहीं है किन्तु अनुनासिक अकार के भावी होने मे क बाधा नहीं है ।

एँ ऐँ ओँ औँ—ये चार नासिक्य सध्यस्वर स्वर, दीर्घ, प्लुत भेद से = क्योंकि ये कभी ह्रस्व नहीं होते । ये सध्यस्वर होने से द्विमात्रिक है अँ

(३)	ग	ज	ड	द	व	
	क	च	ट	त	प	
	ख	छ	ठ	थ	फ	ये २५ स्पर्शवर्ण हैं ।
	घ	झ	ढ	व	भ	
	ड	ञ	ण	न	म	

(४)		य	र	ल	व	
		श	ष	स	ह	ये आठ यादिवर्ण है ।

(५)	()	क—जिह्वामूलीय				
	()	प—उपध्मानीय				
		अ—अनुस्वार				
		अ—विसर्जनीय				
		कुँ गुँ गुँँ छुँ—यम				ये आठ अयोगवाह हैं ।

(६) ङ—दुस्पृष्ट । १ वण

(७) कोई लृकार को प्लुत नहीं मानते । उनके मत में ६३ वर्ण हैं । और जो लृकार को प्लुत मानते हैं उनके मत में ६४ वर्ण हैं ।

(८) कात्यायन ने प्रातिशारय में 'हुम्' यह नासिक्य वर्ण अधिक माना है । अत उनके मतानुसार ब्राह्मवर्ण-समाम्नाय में ६५ वर्ण हैं । जैसा कि उन्होंने कहा है कि २३ स्वरवर्ण हैं और ४२ व्यजनवर्ण हैं । ये ६५ वर्ण ही ब्रह्मराशि कहलाते हैं । इन्हीं में सारा वाङ्मय प्रतिष्ठित है । स्वर के बिना अनुस्वार तथा विभर्ष वा उच्चारण नहीं होगा । अत वे व्यजन कहलाते हैं ।

(९) उदात्त, अनृदात्त व स्वरित की एवत्वविवक्षा के कारण उदात्तादिभेद से स्वरसरया में वृद्धि नहीं है । स्वरभक्ति का स्वर में अन्तर्भाव है । विवृत्ति तथा सवृत्त अकार का अकार में अन्तर्भाव है । दुस्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-अ य ड ल व का ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऽ य र ल व के द्वारा संग्रह है । औरस्य हकार का कण्ठ्य हकार के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तथा रङ्गवर्ण का अनुस्वार में अन्तर्भाव है । इस प्रकार ६४ वर्ण ही हैं, अधिक नहीं ।

इस ब्राह्म-वर्णसमाम्नाय के सम्प्रदाय का ऋक्त-व्याकरण में निम्नरीति से उल्लेख है —

(३)	ग	ज	ड	द	व	
	क	च	ट	त	प	
	ख	छ	ठ	थ	फ	ये २५ स्पर्शवर्ण हैं ।
	घ	झ	ढ	व	भ	
	ङ	ञ	ण	न	म	

(४)	य	र	ल	व	
	श	ष	स	ह	ये आठ यादिवर्ण हैं ।

(५)	()	क—जिह्वामूलीय
	()	प—उपध्मानीय
		अ—अनुस्वार
		अ—विसर्जनीय

कुं गुं गुं घुं—यम ये आठ अयोगवाह हैं ।

(६) ङ—दु स्पृष्ट । १ घण

(७) कोई लृकार को प्लुत नहीं मानते । उनके मत में ६३ वर्ण हैं । और जो लृकार को प्लुत मानते हैं उनके मत में ६४ वर्ण हैं ।

(८) कात्यायन ने प्रातिशाख्य में 'हुम्' यह नामिक्य वर्ण अधिक माना है । अतः उनके मतानुसार ब्राह्मवर्ण-समाम्नाय में ६५ वर्ण हैं । जैसा कि उन्होंने कहा है कि २३ स्वरवर्ण हैं और ४२ व्यंजनवर्ण हैं । ये ६५ वर्ण ही ब्रह्मराशि कहलाते हैं । इन्हीं में सारा वाङ्मय प्रतिष्ठित है । स्वर के बिना अनुस्वार तथा विसर्ग या उच्चारण नहीं होगा । अतः वे व्यंजन कहलाते हैं ।

(१०) उदात्त, अनुदात्त व स्वरित की एकत्वविवक्षा के कारण उदात्तादिभेद में स्वरसरया में वृद्धि नहीं है । स्वरभक्ति का स्वर में अन्तर्भाव है । विवृत्ति तथा सवृत्त अकार का अकार में अन्तर्भाव है । दु स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-अ य ड ल व का ईपत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्णों-ऽ य र ल व के द्वारा सग्रह है । औरस्य हकार का कण्ठ्य हकार के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तथा रङ्गवर्ण का अनुस्वार में अन्तर्भाव है । इस प्रकार ६४ वर्ण ही हैं, अधिक नहीं ।

इस ब्राह्म-वर्णसमाम्नाय के सम्प्रदाय का ऋक्तन्त्र-व्याकरण में निम्नरीति से उल्लेख है —

‘इदमक्षर छन्दो वर्णश समनुक्रान्तम् । ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच ।
बृहस्पतिरिन्द्राय । इन्द्रो भरद्वाजाय । भरद्वाज ऋषिभ्य । ऋषयो
ब्राह्मणेभ्य । त खतिप्रमक्षरसमाम्नाय ब्रह्मराशिरित्याचक्षते । न भुक्त्वा
न नक्त पश्यात् ।’ इति ।

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय

माहेश्वर वर्णसमाम्नाय मे ५१ वर्ण हैं । जिनका उल्लेख ‘अ इ उण्, ऋ
लृक्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य र रट्, लण्, ज म ट ण न म्, ऋ भ ञ्, घ
ढ ध प्, ज घ ग ङ द श्, ञ फ छ ठ थ च ट त व्, व प य्, क्ष प स र्, हल्’ इन
चौदह माहेश्वर सूत्रो म है । ये वर्ण—

अ	इ	उ	ऋ	लृ
०	ए	ओ	ऐ	औ
ह	य	व	र	स
ज	म	ड	ण	न
ऋ	भ	ष	ढ	ध
ज	व	ग	ङ	द
र	फ	छ	ठ	थ
च	ट	त	क	प
क्ष	प	स	ह	०

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय एव यमो का अकार पर
तथा शरो मे पाठ मानते हैं । ऐसा महाभाष्य मे कहा है । अत आठ वर्ण ये हैं ।
इस प्रकार ५१ वर्ण हैं । शेष वर्णों का इन्हीं मे अन्तर्भाव है ।

प्राचीन काल मे असुरो के अनेक अवान्तर भेद थे । उनमे मयासुर-विभाग
विद्या, शिल्प, कला, वीरता, सम्यता आदि गुणो को विशेषता के कारण अन्यो
से श्रेष्ठ था । वही विभाग प्रचीन समय म यवन नाम से विख्यात था । उसको
वर्णमातृका होडाचक्र नामक थी, उसमे ३७ वर्ण थे । वे निम्नाङ्कित हैं —

(१) अ व क ह ङ
म ट प र त
न य भ ज ख
ग स द च ल

ये २० प्रतीयं वर्ण है ।

(२) अ इ उ ए ओ

ये ५ मात्रावर्ण है ।

(३) घ ङ छ

य ण ठ

घ फ ढ

थ भ ञ

ये १२ परिसिष्ट वर्ण हैं ।

प्रतीय वर्णों में सवृत अकार है वह व्यजनतुल्य है । मात्रावर्णों में विकृत अकार है वह स्वरवर्ण है । प्रतीय वर्णों में मात्रा के सम्बन्ध से प्रस्तार होने पर १०० वर्ण हो जाते हैं । वे निम्नाङ्कित हैं —

(१)	अ व क ह ङ इ वि कि हि डि उ वु कु हु डु ए वे के हे डे ओ वो को हो डो	(२)	म ट प र त मि टि पि रि ति मु ढ पु रु तु मे टे पे रे ते मो टो पो रो तो
-----	---	-----	--

(३)	न य भ ज ख नि यि भि जि खि नु यु भु जु खु ने ये भे जे खे नो यो भो जो खो	(४)	ग स द च ल गि सि दि चि लि गु सु डु वु लु गे से दे चे ले गो सो दो चो लो
-----	---	-----	---

अवजद, हृष्यज, हुत्तो, कलमन् इत प्रारि ती एक अवजद नाम की अन्य वर्णमातृका भी थी। किन्तु आयों ने उसका ग्रहण नहीं किया अतः उसका यहाँ निरूपण नहीं किया जा रहा है।

अवयवपरिच्छेद को मात्रा कहते हैं। ध्वनिपरिच्छेद वर्ण कहलाते हैं। अतः वर्णरूप परिच्छेद ही मातृका कहलाती है। मात्रिका को ही उच्चारण की समानता से मातृका कहते हैं। अथवा जननी को माता कहते हैं अर्थात् जननी से मातृशब्द रूढ़ है। यह वर्णमाता भी तद्देश्य भाषाओं की जननी है। अतः वर्णमाता को वर्णमातृका कहा गया है।

पहिले भाषा ही चालू हुई थी। पदचान उसमें वाक्यविभाग, वाक्यों में पद विभाग तथा पदों में वर्णविभाग हुआ। प्रारम्भ में तत्त्वज्ञानों में प्रारम्भ होने वाले पदविशेष के द्वारा वर्णों की सज्ञा थी। जैसे—अधमवाची 'रेफ' पद रकार का बोधक था। पदचातु वर्ण के आगे 'इति' शब्द जोड़ कर वर्णों की सज्ञा हुई। जैसे—डिति डकार वर्ण की सज्ञा हुई। कात्यायनादि आचार्यों ने 'निर्देश इतिना' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि वर्णों का निर्देश वर्ण के आगे इतिशब्द लगा कर करना चाहिये। तदनन्तर वर्ण के आगे कार-शब्द जोड़ कर वर्णों की सज्ञा की जाने लगी। जैसे अकार 'अ' की तथा ककार 'क' की सज्ञा बनी। 'कारेण च अव्यवहितेन व्यजनस्य' इस सूत्र के द्वारा कात्यायन ने इसी तथ्य का निर्देश किया है। 'र एफेन च' इस सूत्र के द्वारा यह भी बतलाया है कि रकार का रेफ शब्द से भी व्यवहार होता है। पदों में वर्णव्याकरण सर्वप्रथम रेफ शब्द से ही आरम्भ हुआ। अतः उसके स्मरण के लिये मातृकात्मिक खण्डाभिज्ञान रेफ शब्द से ही कहा जाता है 'स्वररपि' इस सूत्र के द्वारा कात्यायनादि ने यह बतलाया है कि स्वरों के द्वारा वर्णों का निर्देश होता है। और यह नियम सर्वभाषासाधारण है। जैसे क, ख, ग, घ, ङ में अकाररूप स्वर के द्वारा ही वर्णों का निर्देश हुआ है। इसी प्रकार दृग्विभ भाषा में वही ए, वि, सि, डि इस रूप से इकार के द्वारा, जे, के में एकार के द्वारा, वर्णों की सज्ञा की गई है। कहीं आदि में एकार लगा कर सज्ञा की जाती है। जैसे—एफ, एल, एम, एन, एस, एक्ष में। वही आदि में अकार लगाकर। जैसे—आर। पारसी भाषा में भी एकार जोड़कर वर्णसज्ञा की जाती है। जैसे—वे, पे, ते, टे, से इत्यादि में। अलिपि शब्द अलिपि का अपभ्रंश है। जीम्, सीम्, स्वाद, गीन इत्यादि सज्ञायै संस्कृत रेफ शब्द की तरह

प्राचीनसंप्रदायसिद्ध है। जमे—रेफ शब्द माङ्गलिक है इसी प्रकार जीम् इत्यादि शब्द भी माङ्गलिक है।

श्री मधुसूदनविशवाचस्पतिप्रणीत पथ्यास्त्रस्ति प्र य के मातृस्वपरिष्कार नामक प्रथम प्रपाठ की हिंदी व्याख्या समाप्त ।

यमपरिष्कार द्वितीय प्रपाठ

यमपरिष्कार नामक द्वितीय प्रपाठक में यम का विशद विवेचन किया गया है। शुद्धजित्, सोष्मजित्, द्रुद्धवि, सोष्मवि भेद से यम के ४ प्रकार हैं। उनको जमग कु खु गु घु मशाये है। यम के स्वरूप में मतभेद है। १—एकवर्ण म पूर्व तथा पर अक्षरो के जलो की एक साथ मम्प्रमक्ति होने पर दोनों बलों के विरोध से वर्ण को द्वित्व हो जाता है। उन दो वर्णों में द्वितीय वर्ण अनुनासिक पर वर्ण के कारण नासिक्य हो जाता है। वही नासिक्य वर्ण यम कहलाता है। द्विस्त वर्णों में प्रथम वर्ण निरनुनासिक है और द्वितीय वर्ण अनुनासिक परवर्ण के कारण नासिक्य हो गया है। इन दोनों का भिन्न प्रयत्न से ग्रहण होता है। अतः दोनों वर्णों में कुछ विच्छेद होता है और यम एक ही वस्तु है। इस द्विरुक्त वर्ण में पहिले का स्पृष्ट प्रयत्न है क्योंकि वह निरनुनासिक है तथा द्वितीय अनुनासिक है, क्योंकि पर अनुनासिक पचमवर्ण के प्रभाव के कारण उसमें नासिक्य आ जाती है अतः उस नासिक्य द्वितीयवर्ण का सबुत प्रयत्न है। यही इन दोनों वर्णों के प्रयत्न में भेद है। मण्डूक ने इस अर्थ में स्पष्टीकरण किया है। जैसे—

वर्गानां तु प्रयोगेषु वर्णस्याच्चतुर्विधम् ।
सवृतं विवृतं च स्पष्टमस्पष्टमेव च ॥
स्पर्शानां करणं स्पष्टमन्तःस्वराणामतोऽयथा ।
यमानां सवृतं प्राहुर्विवृतं तु स्वरौष्मणाम् ॥

यहां स्पष्ट रूप से यम वर्णों का सवृत प्रयत्न बतलाया गया है। इस पक्ष में यम वर्ण का आगम है। अतएव सशरीर है एव पूर्व वर्ण के सदृश वर्ण

है। केवल उन दोना वर्णों में अस्वभाविकता व गानुनागिताता तथा स्पृष्ट प्रयत्न व मनुत प्रयत्न का भेद है। वर्णप्रयोगकार ने भी—

‘रजगात् मयोगपूर्वम्य द्वित्वाज्जातो त्रितोयः ।
तन्मय यमसज्ञा स्यात् पञ्चमर्ग्यनो यदि ॥’

इस वाक्य के द्वारा पञ्चम अक्षर के परे होने पर उन्मये गाय समुक्त पूर्व वर्ण के द्वित्व ने उत्पन्न तत्समाग द्वितीय वर्ण का ही यम वतलाना है। ‘अनन्त्यान्त्यमयोगे मध्ये यम’ इस श्रीरज्जि सूत्र में भी उन्मी तव्य ता स्पष्टीकरण है। ये यम सख्या में योग हैं, क्योंकि प्रत्येक वर्ण के आदि के चारों वर्णों में पञ्चम वर्ण के परे होने पर द्वित्व के कारण उत्पन्न द्वितीयवर्ण यम कहलाते हैं। तथापि शुद्धजित्व सोष्मजित्व, शुद्धजित्व व सोष्मजित्व इन धर्मों के प्रत्येक वर्ण के चारों यम वर्णों में समानरूप से रहने के कारण इन चार वर्णों के कारण यम चार ही माने जाते हैं।

दूसरा मत यह है कि दो वर्णों के मध्य में अर्थमात्रावाहिक यति (विच्छेद) होता है जिसे विच्छेद भी कहते हैं। जैसे—‘ददा गागरा’। इस उदाहरण में दग के बाद तथा राम के बाद अर्थमात्रावाहिक विच्छेद होता है। अर्थात् दग पद का उच्चारण करने के पश्चात् राम का उच्चारण करने से पूर्व कुछ समय रुकना पड़ता है। यह यति अर्थभेद में भी कारण पड़ता है। जैसे—‘सदास आयाति’ में प्रथम सकार के बाद यति करने पर इस वाक्य का अर्थ बह ‘बह दास आता है’ यह होता है। और दा के बाद यति करने पर ‘बह सदा आता है’ यह अर्थ होता है। इन दोनों अर्थों के भेद में कारण यति ही है। इसी प्रकार—

काकाली, कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा ।

कस जघान कृष्ण कम्बलवत न वाधते शीतम् ॥

इस पद्य में—‘का वाली का मधुरा, का शीतलवाहिनी गङ्गा ।

कस जघान कृष्ण कम्बलवत न वाधते शीतम् ॥’

इस प्रकार का तथा क के बाद यति करने पर का काली इत्यादि प्रकृत-वाक्य बन जाते हैं। तथा—

काकाली, कामधुरा, काशीतलवाहिनी गङ्गा ।

कस जघान कृष्ण कम्बलवत न वाधते शीतम् ॥

इस रूप में 'काकाली' 'कामधुरा' व 'काशीतलवाहिनी' 'गङ्गा' में का के बाद यति न करने से तथा 'कस जघान' में कस के बाद यति करने से एव 'कम्बलवन्त' में क के बाद यति न करने से यही पदय उत्तरवाक्य बन जाता है। इसी रीति से -

कागदही की आस में बंठे निपट उदास ।

कागदही पाये बिना मिटे न मन की प्यास ॥

इस भाषापदय में भी तीन जगह विरतिरूप यति के भेद से तीन अर्थ होते हैं। जैसे - का गदही की आस में, काग दही की आस में तथा कागद ही की आस में ।

'स क्रतु' इस शब्द में ककार से पूर्व विरति होने पर 'सञ्क्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। किन्तु ककार के उत्तर यति होने पर 'सक्स्त्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। यद्यपि 'सक्रतु' में ककार परस्वर का अंग है। किन्तु जब ककार के बाद यति होती है तो यति द्वारा ककार पर परस्वर का बल शिथिल हो जाता है और पूर्व अक्षर के बल का आक्रमण होने से पूर्व के साथ अधिक सनिकप होता है। ककार पर, पूर्व तथा पर दोनों अक्षरों के बल के आक्रमण के कारण 'क' को जब द्वित्व हो जाता है तब यति पूर्व ककार के बाद तथा द्वितीय ककार के पूर्व होती है। और 'स क्स्त्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। 'नक्तम्' में एक ही पद होने से पदविरति के न होने से, दो अक्षरों के मध्य ही विरति होने से भिन्न स्थानों में विरति होने के कारण तीन प्रकार का उच्चारण होता है। जैसे— न-यतम्। नक्-तम्। नक्त्तम्। पहिले में 'क' से पूर्व विरति है। द्वितीय में 'क' के बाद। तथा तृतीय में पूर्वोत्तरो के बलों के आक्रमण के कारण 'क' को द्वित्व होता है, और दोनों अक्षरों के मध्य विरति है। अनुनासिक बरों के परे होने पर उसके प्रभाव के कारण विरति नासिक्य बन जाती है उसी को यम कहते हैं। इस पक्ष में विरति या अर्द्ध-मात्रा-कालिक विच्छेद का नाम यति है और विच्छेद या विरति शरीरशून्य है। अतः इस पक्ष में यम भी शरीरशून्य है। इसीलिए अमोघनन्दिनी शिक्षा में यम को अशरीर कहा है।

'जकारो द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः ।

अशरीर यम विद्यात् समाज्जर्माति निदर्शनम् ॥

'अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमे तु विच्छेदम्' इस प्रातिशाख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने भी 'विच्छेद इति यमसज्ञा' इस उक्ति के द्वारा विच्छेद

है। केवल उन दोनों वर्णों में निरनुनासिकता व भानुनासिकता तथा स्पृष्ट प्रयत्न व सवृत्त प्रयत्न का भेद है। वर्णप्रदीपिकाकार ने भी—

‘स्वरात् मयोगपूर्वस्य द्वित्वाज्जानो द्वितीयक ।
तस्यैव यमसजा स्यात् पञ्चमर्वा यतो यदि ॥’

इस कारिका के द्वारा पञ्चम अक्षर के परे होने पर उसके गाय समुक्त्त पूर्व वर्ण के द्वित्व से उत्पन्न तत्समान द्वितीय वर्ण का ही यम बतलाया है। ‘अनन्त्यान्त्यसथोगे मध्ये यम’ इस श्रौदग्रजि सूत्र में भी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण है। ये यम सख्या में वीस हैं, क्योंकि प्रत्येक वग के आदि के चारों वर्णों में पञ्चम वर्ण के परे होने पर द्वित्व के कारण उत्पन्न द्वितीयवर्ण यम कहलाते हैं। तथापि शुद्धजित्व सोप्मजित्व, शुद्धजित्त्वं व सोप्मजित्त्वं इन धर्मों के प्रत्येक वग के चारों यम वर्णों में समानरूप से रहने के कारण इन चार धर्मों के कारण यम चार ही माने जाते हैं।

दूसरा मत यह है कि दो पदों के मध्य में अक्षरमात्राकारित्वा यति (विच्छेद) होना है जिसे विद्वान् भी कहते हैं। जैसे—‘दश गमयता’। इस उदाहरण में दश के बाद तथा राम के बाद अर्द्धमात्रावातिक विच्छेद होता है। अर्थात् दश पद का उच्चारण करने के पश्चात् राम का उच्चारण करने से पूर्व कुछ समय रुकना पड़ता है। यह यति अक्षरभेद में भी कारण पड़ता है। जैसे—‘सदास आयाति’ में प्रथम सकार के बाद यति करने पर इस वाक्य का अर्थ वह ‘वह दास आता है’ यह होता है। और दा के बाद यति करने पर ‘वह सदा आता है’ यह अर्थ होता है। इन दोनों अर्थों के भेद में कारण यति ही है। इसी प्रकार—

काकाली, कामधुरा काशीतलवाहिनी गङ्गा ।
कस जवान कृष्ण कम्बलवन्त न वाधते शीतम् ॥

इस पद्य में—‘का काली का मधुरा, का शीतलवाहिनी गङ्गा ।

क सजधान कृष्ण क बलवन्त न वाधते शीतम् ॥’

इस प्रकार का तथा क के बाद यति करने पर का काली इत्यादि प्रश्न-वाक्य बन जाते हैं। तथा—

काकाली, कामधुरा, काशीतलवाहिनी गङ्गा ।

कस जधान कृष्ण कम्बलवन्त न वाधते शीतम् ॥

इस रूप में 'काकाली' 'कामधुरा' व 'काशीतलवाहिनी' 'गङ्गा' में का के वाद यति न करने में तथा 'कस जघान' में कस के वाद यति करने से एव 'कम्बलवन्त' में क के वाद यति न करने से यही पदय उत्तरवाक्य बन जाता है। इसी रीति से —

कागदही की आस में बंटे निपट उदास।

कागदही पाये विना मिटे न मन की प्यास ॥

इस भाषापदय में भी तीन जगह विरतिरूप यति के भेद से तीन अर्थ होते हैं। जैसे— का गदही की आस में, काग दही की आस में तथा कागद ही की आस में।

'स क्रतु' इस शब्द में ककार से पूर्व विरति होने पर 'सञ्क्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। किन्तु ककार के उत्तर यति होने पर 'सक्त्तरु' ऐसा उच्चारण होता है। यद्यपि 'सक्रतु' में ककार परस्वर का अंग है। किन्तु जब ककार के वाद यति होती है तो यति द्वारा ककार पर परस्वर का बल शिथिल हो जाता है और पूर्व अक्षर के बल का आक्रमण होने से पूर्व के साथ अधिक सनिकर्ष होता है। ककार पर, पूव तथा पर दोनों अक्षरों के बल के आक्रमण के कारण 'क' को जब द्वित्व हो जाता है तब यति पूर्व ककार के वाद तथा द्वितीय ककार के पूर्व होती है। और 'स व्स्क्रतु' ऐसा उच्चारण होता है। 'नक्तम्' में एक ही पद होने से पदविरति के न होने से, दो अक्षरों के मध्य ही विरति होने से भिन्न स्थानों में विरति होने के कारण तीन प्रकार का उच्चारण होता है। जैसे— न-वतम्। नक्-तम्। नक्त्तम्। पहिले में 'क' से पूर्व विरति है। द्वितीय में 'क' के वाद। तथा तृतीय में पूर्वोत्तरो के बलों के आक्रमण के कारण 'क' को द्वित्व होता है, और दोनों ककारों के मध्य विरति है। अनुनासिक वर्णों के परे होने पर उसके प्रभाव के कारण विरति नासिक्य बन जाती है उसी को यम कहते हैं। इस पक्ष में विरति या अद्ध-मात्रा-कालिक विच्छेद का नाम यति है और विच्छेद या विरति शरीरशून्य है। अतः इस पक्ष में यम भी शरीरशून्य है। इसीलिए अमोघनन्दिनी शिक्षा में यम को अशरीर कहा है।

‘जकारो द्वौ मकारश्च रेफस्तदुपरि स्थितः।

अशरीर यम विद्यात् समाज्जर्माति निदर्शनम् ॥

‘अन्त पदेऽपञ्चमा पञ्चमे तु विच्छेदम्’ इस प्रातिशाख्य सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार ने भी ‘विच्छेद इति यमसंज्ञा’ इस उक्ति के द्वारा विच्छेद

को यम बतलाया है। वस्तुतः दो स्वरों के विच्छेद को विवृत्ति सज्ञा तथा दो व्यंजनों के विच्छेद को यम सज्ञा है। 'हरऽएहि' में दो स्वरो के मध्य का विच्छेद विवृत्ति कहलाता है तथा 'पलिक्ऽजनी' आदि में दो व्यंजनों के मध्य का विच्छेद यम कहलाता है। इस पक्ष में विच्छेद की यमसज्ञा होने पर भी विच्छेद के पूर्ववर्ती व्यंजन के चार प्रकार का होने से उसके अनन्तरवर्ती विच्छेदरूप यम को भी चार प्रकार का माना जाता है और इस प्रकार यमपूर्ववर्ती व्यंजन के चातुर्विध्य का यम में आरोप किया जाता है।

तोसरा पक्ष यह है कि भगवान् कणाद ने 'सयोगविभागशब्देभ्यः शब्दोत्पत्ति' इम सूत्र के द्वारा सयोग, विभाग तथा शब्द से शब्द की उत्पत्ति बतलाई है। जैसे-ऊर्-ऊर्-ऊ, हरित्-त्, फट्-ट्, इत्यादि में पदान्त के ककार, तकार, टकारों में प्रथम ककारादि, स्थान-करणसयोगजन्य हैं तथा द्वितीय ककारादि, वेग से स्थान-करण का विभाग होने से उत्पन्न होते हैं अतः विभागज हैं। यद्यपि स्थान-करण-सयोग का दानं उपराम होने पर अर्थात् विभाग होने पर कोई भी वर्ण उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वेग के साथ स्थान-करण का विभाग होने पर, जिस प्रकार वेगपूर्वक स्थान-करण के सयोग से शब्द उत्पन्न होना है उसी प्रकार विभाग से भी शब्द उत्पन्न होता है। जैसे—पदविरामरूप पदांत में सयोगज व विभागज दोनों प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार पद के मध्य में भी स्थान-करण के सयोगजन्य शब्द की तरह वेग से स्थान और करण का विभाग होने पर विभागज शब्द भी उत्पन्न होता है। सोष्मवर्ण (वर्णों के द्वितीय चतुर्थ वर्णों), रेफ तथा हकार को छाडकर शेष वर्णों में द्वित्व का यही कारण है। यह विभागज वर्ण ही अनुनासिक वर्ण होने पर उसके प्रभाव से नासायता को प्राप्त होकर यम कहलाता है। 'सक्थ्-थ्ना' इत्यादि में ककार के आगे थकार पर विरति होती है। यह थकार सयोगज व विभागज दोनों प्रकार का है। इनमें विभागज थकार अनुनासिक 'न' के पूर्व होने से यम कहलाता है। यहा पर ककार को द्वित्व नहीं होता, क्योंकि वर्णरत्न प्रदीपिका में यम के परे होने पर ककार के द्वित्व का निषेध किया है।

‘द्विरुक्ति वर्जयेन्नित्यं यमेऽपि परत स्थिते ।

सक्थ्-थ्ना देदिस्यते नारी ककारोऽत्रैक एव हि ॥’

यद्यपि 'सक्थ्-थ्ना' में थकार को भी द्वित्व नहीं होता क्योंकि 'सर्वेषां

व्यजनाना द्विर्भावो भवति द्वादशवर्जम् । ते ख छ ठ थ फा घ ङ ढ ध भा रहौ चेति ।' इस गीतमसूत्र मे थ के द्वित्व का निषेध किया है, अतः दम मन को मानने पर थकारान्तर्वर्ती तकार को द्वित्व मानना चाहिये । प्रथमद्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्या 'इम कात्यायन प्रातिशाख्य सूत्र मे भी यही तथ्य बतलाया गया है । इस प्रकार २० यम हैं । चतुर्थ मत यह है कि २० यम नहीं है किन्तु क, ख, ग, घ-सदृश ध्वनि वाले चार ही यम हैं जिनकी क्रमशः कु खु ृ घु ये सजायें हैं । अतः आतनचिम मे आतनच्-क्विम, समाज्ज्मि का समाज्ग्मि, आट्णा का आट्क्णा, रत्नम् का रत्क्नम्, सध्ना का सक्थना, विघ्न का विद् म, दध्ना का दध्-ध्म, पाप्मा का पाप्-म्मा ऐमा उच्चारण होता है । इसलिए पाणिनीय शिक्षाभाष्य शिक्षाप्रकाश मे 'अन्तर्वत्क्नी मे तकार, यम ककार, नकार व ईकार ये चार वर्ण माने हैं । 'यज्ज' मे जकार, यम गकार, तथा ञकार ये तीन वर्ण माने हैं । अर्थात् इन उदाहरणों मे च व ज के नाथ भी क्रमशः ककार व गकार को ही यम माना है न कि च या ज को ।

वस्तुतः कुं व गुं इन यमों के कवर्ग-स्थानीय होने से चवर्ग स्थानीय च तथा ज को भी कवर्ग होकर क्रमशः क तथा ग हो जाता है । इसी तथ्य का निरूपण 'चो कु' सूत्र के द्वारा किया गया है । अतः आतनचिम के स्थान मे 'आतनक्क्विम' तथा समाज्मि के स्थान मे 'समाज्ग्मि, यज्ज' के स्थान मे 'यग्ग्त्र' तथा विज्जानम् के स्थान मे 'विग्ग्ज्ञानम्' उच्चारण सम्प्रदायसिद्ध माना जाता है ।

'ज्ज्ञानम्' मे भी मध्यम 'गुं' यम होता है । क्योंकि वर्णों के अन्त्य-भिन्न तथा अन्त्य वर्णों के संयोग मे मध्य मे यम होता है । ऐसा 'श्रीद्विजि ने, वर्णों के अन्त्यभिन्न तथा अन्त्य स्पर्शों का संयोग होने पर अन्त्यभिन्न वर्ण के पूर्व मे तथा, अन्त्य वर्णों के उत्तर मे होने पर यम का प्रयोग होता है, ऐसा गीतम^२ ने

१ अनत्यात्यसंयोगे मध्ये यम पूर्वगुण ।

२ अनत्यानत्यासंयोगेऽन्यपूर्वोऽत्योत्तरे व्यवधानवर्जिते तत्र यमा वतते न सशय ।

कहा है। इसी प्रकार नारद^१, याज्ञवल्क्य^२, एव मण्डूक^३ ने भी अनन्त्य व अन्त्य वर्णों का सयोग होने पर मध्य म यम को सत्ता बतलाई है। अतः ज्ञानम् मध्य मे गुं सज्ञक यम के होने से और उसके भ्रुत् प्रत्याहारान्तर्गत होने से जकार को भी 'चो कु' से वृत्त्व होकर गकार का ही उच्चारण होता है, यही उच्चारण वेदसम्प्रदायसिद्ध है। लोक में भी यही उच्चारण होता है। क्योंकि किन्तने ही वैदिक शब्दों का य उच्चारणों का लोक में भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे वैदिक घृ धातु का लोक में भी 'घृतम्' आदि शब्दों में प्रयोग देखा जाता है।

'ज्ञानम्' 'विज्ञानम्' इत्यादि में एक ही गकार प्रतीत होता है। अतः अप्रतीयमान द्वितीय 'गु' यम की सत्ता, प्रतीत न होने से कैसे मानी जायेगी, यह शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पूर्वं स्पर्श और यम का सयोग अयस्पिण्ड के समान घन है, अतः उसकी पृथक् प्रतीति न होने पर भी प्रकृतिसिद्ध यम का अपलाप नहीं किया जा सकता। भगवान् शौतम ने तीन प्रकार के सयोग-पिण्ड माने हैं—अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड तथा ऊर्णापिण्ड। यम के साथ वर्णों के सयोग को अयस्पिण्ड, अतस्थवर्णों के साथ वर्णों के सयोग को दारुपिण्ड, यम व अन्त स्थवर्णों से भिन्न वर्णों के सयोग को ऊर्णापिण्ड माना है। अन्तस्थ और यम वर्णों के सयोग में कोई विशेषता नहीं है। अतः यम को अशरीर बतलाया गया है।

अशरीर का तात्पर्य यह है कि यम पूर्ववर्ती स्पर्श के शरीर में अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं। इसीलिये पूर्वस्पर्शवर्ण तथा यम के मध्य में कोई विच्छेद नहीं होता। इसीलिये पूर्ववर्ती स्पर्श से भिन्न यम की प्रतीति नहीं होती। जैसा कि 'ज्ञानम्', 'विज्ञानम्' इत्यादि उदाहरणों में देखा जाता है।

श्री मधुसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत षष्ठाः स्वस्ति प्रथम के प्रातृकाररिष्कार-नामक
द्वितीय प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त ।

- १ अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो अन्त्यश्च परतो यदि ।
तत्र मध्ये घमस्तिष्ठेत् सवर्णं पूर्ववर्णयो ॥ (नारद)
- २ अपञ्चमंश्चकपदे सपुबत पञ्चभाक्षरम् ।
उत्पद्यते यमगत्र सोऽङ्गं पूर्वोक्षरस्य हि ॥ (याज्ञवल्क्य)
- ३ स्वर्णानामुत्तमं स्पर्शं सयोगादवेदनुक्रमात् ।
भानुपूर्व्यां यमास्तत्र जानीयाच्चतुरस्तथा ॥ (मण्डूक)

गुणपरिष्कार-तृतीय प्रपाठ

सप्त खण्डात्मक गुणानुवाक नामक तृतीय प्रपाठ में वर्णों में रहने वाले गुणों का निरूपण किया गया है। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' इत्यादि श्रुति में चार प्रकार की वाक् का निरूपण किया गया है।

वाक् से परिच्छिन्न चार स्थान होते हैं—वाचस्पत्य, ब्राह्मणस्पत्य, ऐन्द्र और भौम। इन चार प्रकार के स्थानों के कारण वाक् के भी चार भेद बन जाते हैं—वेकुरा, सुब्रह्मण्या, गौरिवीता तथा आम्भृणी। स्वयम्भूमण्डलरूप परमाकाश में विद्यमान वाक् वेकुरा, महामुद्ररूप पारमेष्ठ्य मण्डल में विद्यमान वाक् सुब्रह्मण्या, महाब्रह्माडरूप सौरमण्डल में विद्यमान वाक् गौरिवीता तथा चन्द्रमण्डल में युक्त भौमण्डलरूप पार्थिव मण्डल में विद्यमान सोममयी वाक् आम्भृणी कहलाती है। यह चारों प्रकार का वाक्त्व तत्तल्लोको में विद्यमान सभी पदार्थों का उपादान कारण है। उनमें यह आम्भृणी वाक् इस भूमि में सर्वत्र व्याप्त है। इसी आम्भृणी वाक् में सब मनुष्य उपजीवित हैं। अथ तीन प्रकार की वाक् गुहा में निहित है अर्थात् अज्ञात हैं, जसा कि वेदमंत्र में कहा गया है—

“बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत् प्रैरत नामनेय दधाना ।

यदेपा श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेपा निहित गुहावि ॥”

अर्थात् ऋक्, साम तथा यजुरूप वैदिकी वाक् सबको प्रकट होती हुई भी गुहा में निहित है अर्थात् मानव उसको सम्यक्नया नहीं जानते। उपर्युक्त चारों प्रकार की वाक् का निरूपण विशदरूप से ब्रह्मविज्ञान में किया गया है। 'चत्वारि वाक्' इत्यादि मंत्र का उपर्युक्त व्याख्यान एक प्रकार का है। अथ प्रकार से इसका व्याख्यान मैत्रायणि श्रुति में किया गया है। जैसे—

यह वाक् वाज (अन्न) का प्रसव है अर्थात् अन्न से उत्पन्न होती है ऐसा मैत्रायणि श्रुति में कहा है—“वाग् हि वाजस्य प्रसव । सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु । त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम् । या पृथिव्या साऽज्ञी सा रथन्तरे । १। याऽत्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये । २। या

१ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मन्त्रोपिण ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

दिवि सा वृहति सा स्तनयित्नी ।३। अथ पशुषु ।४। ततो या वागत्यरिच्यत ता
ब्राह्मणे न्यदधु । तस्माद् ब्राह्मण उभयी वाच वदति—यश्च वेद यश्च न । या
वृहदरथतरयो—यज्ञादेन (वाज) तथा गच्छति । या पशुषु तथा ऋते यजम् ।

वाजस्येम प्रसव सुपुवे अग्रे सोम राजानमोपधीष्वप्सु । स विराज पर्येतु
प्रजानन् प्रजा पुष्टि वधयमानो अस्मे ॥१॥ । वाजस्येमा प्रसव शिश्रिये दिव स
ओपधी समनक्तु घृतेन । वाजस्येद प्रसव आचभूवेमा च विश्वा भुवनानि
सवत ॥२॥ (मैत्रि० ब्रा० १।११।४-५) इति ।

उपर्युक्त मंत्रायण श्रुति से यह सिद्ध है कि अन्न की प्रसवभूत वाक् के चार
भेद हैं । इसके तीन चतुर्थीय, पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में हैं तथा एक
चतुर्थीय पशुषु में है । तीनों लोको में रहने वाली वाक् के तीन भेद गुहानिहित
वस्तु की तरह प्रच्छन्न रहते हैं, अनुभूत नहीं होते । किन्तु पशुषु में रहने वाली
चतुर्थी वाक् अनुभूत होती है । इस प्रकार 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' की
यह दूसरी प्रकार की व्याख्या है । अन्य प्रकार से इस श्रुति का व्याख्यान
निम्नांकित है—

अमृता, दिव्या, वायव्या तथा ऐन्द्री भेद से वाक् चार प्रकार की है ।
उनमें मन और प्राण से गर्भित सत्यावाक् अमृता कहलाती है । ऋक्, साम
और यजु ये तीनों वेद ही अमृता वाक् हैं । इन्हीं से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं ।
इन्हीं में सब पदार्थ स्थित रहते हैं, इन्हीं में सब पदार्थों की सस्थिति अर्थात्
लय होता है । यह अमृता वाक् आकाश है । अग्नि इमवा ब्रह्म है, अग्नि
इसका उपनिपद है । इसलिये इसे आग्नेय कहते हैं । इसका निरूपण निम्न
मन्त्र में किया गया है—

“गौरीमिमाय सलिलानि तक्षती एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।

अष्टापदी नवपदी बुभूषुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥”

(ऋ० १।१६४।४१)

दिव्या वाक् ऋत कहलाती है, यही अथर्ववेद है । सारे देवता और
भूत दिव्यवाङ्मय ही हैं । निम्न मन्त्र में इस तथ्य का निरूपण किया
गया है—

“इय सा परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसशिता ।

येनैव ससृजे घोर तेनैव शान्तिरस्तु न ॥”

इस वाक् को सरम्बान् कहते हैं। दिक्मोम इमका ब्रह्म है, दिक्मोम इमका उपनिपद् है। इसलिए यह सोम्या कहलाती है। इम दिव्या वाक् का निरूपण निम्न मंत्रों में मिलता है—

“तम्या समुद्रा अविषारन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र ।
 तत क्षरत्यक्षर तद् विश्वमुपजीवति ॥
 वागक्षर प्रथमजा ऋतस्य वेदाना माता अमृतस्य नाभि ।
 सा नो जुपाणोपयज्ञभागादवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु ॥”

इन दोनों में ध्वनि नहीं होती। इमलिये श्रोत्रेन्द्रिय में इमका ज्ञान नहीं होता। ध्वनि ही शब्द है। इन दोनों में ध्वनि न होने से ये दोनों वाक् शब्द-रूप नहीं हैं।

“वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्याश्च निममे ।”

इस मनुस्मृतिवाक्य में शब्दरहित इन वेदरूप वाणियों के लिए जो ‘शब्द’ शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे लाक्षणिक मानना चाहिए। क्योंकि शब्दरहित अमृता देववाक् ही सृष्टि का कारण है।

श्रोत्र द्वारा ग्रहण करने योग्य ध्वनि दो प्रकार की होती है। इनमें पहली ध्वनि शक्तिरहित होने से अनर्थक है और वर्ण, पद, वाक्य आदि में विभक्त दूसरी ध्वनि सार्थक है। उनमें अनर्थक प्रथम ध्वनिरूप वाक् का वायु ब्रह्म है और वायु उपनिपद् है। इसलिए इसे वायव्या कहते हैं। यह वाक् गतिहीन राते हुए भी वायु से आरब्ध-उत्पादित है, वायु में प्रनिष्ठित है तथा वायु के द्वारा उधर उधर ले जायी जाती है। इसमें नाद, श्वास आदि विशेषताएँ वायु से बनती हैं। यही विश्व का उपजीवन करने वाली सरस्वती नाम की तृतीया वाक् है। यह भी पहली अमृता तथा दूसरी दिव्या वाक् की तरह अव्याकृत अर्थात् व्याकृतिरहित है। क्योंकि अथ के कारण होने वाला वर्णादिविभाग इममें दृष्टिगोचर नहीं होता। इस सरस्वती वाक् में इन्द्र प्रविष्ट होकर विभिन्न आकारों में उसे व्याकृत करता है। इसी का निरूपण निम्न श्रुति में किया गया है—

“वाग् वै पराची अव्याकृता अवदत् । तद् देवा इन्द्रमब्रुवन् इमा नो वाच
 व्याकुरु इति । सोऽब्रवीत् । वग् वृणं । मह्य चवंप वायवे च मह गृह्याता इति ।

तस्मादेन्द्रवायव मह गृह्यते । तामिन्द्रो मध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादिय व्याकृता वागुचते ।" इति ।

उपर्युक्त विषय वा विवेचन "वीभ्रतूना मयुज हममाहु" इत्यादि मंत्र में किया गया है जिसकी व्याख्या 'अक्षर-प्रकरण' में की जायेगी । इन्द्र के द्वारा व्याकृत इस वाक् से ही मारे वैदिक तथा लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, जैसा कि निम्नश्रुति में बतलाया गया है—

"वाच देवा उपजीवति विश्वे वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ।
वाचीमा विश्वा भुवना-र्यपिता सा नो ह्व जुपतामिन्द्रपत्नी ॥"

इस प्रकार वाक् में प्रथम तीन प्रकार के वाक् तत्त्व अथज्ञान के अनुकूल नहीं हैं, अत वे गुहा-निहित कहलाते हैं । वे किसी प्रकार के अर्थ को नहीं बतलाते, किन्तु जिस वाक् को मनुष्य धोलते हैं, जिस वाणी में अक्षर व्जार आदि व्याकृत वर्णों का विभाग है, यह चौथी प्रकार की अव्याकृत वाणी ऐन्द्री वाक् कहलाती है । प्रज्ञा-प्राण को इन्द्र कहते हैं । प्रज्ञान के सम्बन्ध से ही वाणी में वर्ण विभाग होता है । 'अ' तथा 'उ' वैदिक विज्ञान में क्रमशः मन और प्राण के बोधक हैं । वहाँ अक्षर अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि, अम् = प्रज्ञान मन, ऋण = प्राप्त ध्वनि इस व्युत्पत्ति से अर्ण कहलाती है । अथवा उ अर्थान् प्राण, अ अर्थात् प्रज्ञान मन को प्राप्त ध्वनि 'उ-अ ऋण = वर्ण' इस सिद्धि से वर्ण कहलाती है । अत वर्ण ही अर्ण कहलाते हैं क्योंकि प्रज्ञा और प्राण एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते । अत केवल प्रज्ञा से भी प्राण का सग्रह हो जाता है ।

अनाहत नाद में, वायु अग्नि, जल, पृथिवी आदि में, पशु-पक्षी, सरीसृप आदि में तथा सद्योजात अशिक्षित शिशुरोदन आदि में जो वाक् के स्वरूप हैं, वे सब इन्द्र के द्वारा व्याकृत न होने से अनिरुक्त तथा केवल वायव्य होते हैं । मनुष्य जिस वाणी का उच्चारण करते हैं, वह अर्थगर्भित होने से निरुक्त तथा प्रज्ञात कहलाती है । यही ऐन्द्रवायव ग्रह होता है क्योंकि इसमें वायु के साथ इन्द्र का भी समावेश है ।

इस व्याकृत ऐन्द्री वाक् के अध्यात्म में पुन चार भेद हैं । वे चारों भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी हैं । ससार में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का सम्बन्ध न हो । अत सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध (सम्बद्ध) ही

प्रतीत होते हैं। इस उक्ति के अनुसार बुद्धिस्थ वाक् ही परा वाक् कहलाती है। मन के द्वारा पुस्तक के अक्षरो का उच्चारण करने वाले पुरुषो को उपाशु वाक् पश्यन्ती कहलाती है। नाद-ध्वनि के बिना श्वासमान से कान के पास उच्चार्य-माण वाक् मध्यमा कहलाती है। नाद-ध्वनि से युक्त दूर से भी श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक् वैखरी कहलाती है। इनमें परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा प्रच्छन्न हैं अर्थात् उनका विशेषतया ज्ञान नहीं होता किन्तु चतुर्थ वैखरी वाणी का मनुष्य उच्चारण करते हैं। इसीलिये विद्वानो ने कहा है—

“वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा ।
द्योतितार्था तु पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥”

इनमें वैखरी वाणी के अध्यात्म में पुनः चार भेद हैं। जैसा कि “चत्वारि वाक् परिमिता पदानि” इस मंत्र में कहा गया है। वाजसनेय श्रुति में इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है

“इन्द्र ने देखा कि वायु हम में यज्ञ का अधिक हिस्सा ग्रहण करता है। हम भी इसमें हिस्सा लें। उमने कहा कि हे वायो! मुझे भी तुम इस ग्रह में सम्मिलित करो। वायु ने कहा—तब क्या होगा? इन्द्र ने कहा कि निरुक्त वाक् का उच्चारण होगा। वायु ने कहा - यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हें सम्मिलित करता हूँ। तबसे यह ग्रह ऐन्द्रवायव नाम से व्यवहृत होने लगा। वाणी का चौथा भाग निरुक्त है जिसको मनुष्य बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग जिसको पशु बोलते हैं, अनिरुक्त है। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे पक्षी बोलते हैं। वाणी का वह चौथा भाग भी अनिरुक्त है जिसे क्षुद्र सरीसृप (सर्प, बिच्छू आदि) बोलते हैं।”

वैखरी वाणी के ये चार विभाग केवल अध्यात्म में ही नहीं हैं किन्तु अधिभूत तथा अधिदैवत में भी ये चार विभाग समझने चाहियें। जिस वैखरी वाक् का मनुष्य उच्चारण करते हैं, उसमें भी चार विभाग होते हैं। वे चार विभाग वर्ण, अक्षर, पद तथा वाक्य कहलाते हैं। मनुष्यो द्वारा उच्चार्यमाण वैखरी वाणी के ये चार विभाग ही इन्द्रकृत व्याकरण कहलाता है। इनमें वाक्य पदों से, पद अक्षरों से और अक्षर वर्णों से बनते हैं। इनमें वर्ण, अक्षर और पद गुहानिहित हैं अर्थात् स्वतन्त्रतया अर्थबोध उत्पन्न नहीं करते हैं अपितु वाक्य ही

अर्थ को बतलाने में समर्थ है, अतः अर्थबोध के लिए मनुष्य वाक्यों का ही उच्चारण करते हैं।

वर्ण, अक्षर, पद और वाक्य—ये चारों विभाग भी पुनः चार प्रकार के हैं। इनमें वर्ण के चार विभाग अस्पृष्ट, ईपत्स्पृष्ट, स्पृष्ट तथा अर्धस्पृष्ट हैं। अक्षर के चार भेद निम्नलिखित हैं—

१. पूर्व तथा पदचात दोनो प्रकार के व्यापारो (व्यञ्जनों) से शून्य अक्षर अक्षर का प्रथम भेद है। जैसे—अ।

२. पृष्ठ (पदचात) व्यापार से युक्त तथा पूर्व व्यापार से शून्य अक्षर अक्षर का द्वितीय भेद है। जैसे—स्म।

३. पृष्ठ व्यापार से शून्य तथा पूर्व व्यापार से युक्त अक्षर अक्षर का तृतीय भेद है। जैसे—ऊक्।

४. पूर्व तथा अपर दोनो प्रकार के व्यापारो से विशिष्ट अक्षर अक्षर का चौथा भेद है। जैसे—वाक्।

पद के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं, ऐसा भगवान् पतञ्जलि ने कहा है। कुछ उपसर्ग को पृथक् पद नहीं मानते क्योंकि आख्यात उपसर्गविशिष्ट होता है, अतः आख्यात में ही उसका अन्तर्भाव है। जहाँ उपसर्गों में विभक्तियों का प्रयोग हुआ है, जैसे—“इन्द्रो देवान् प्रति प्रति” “अग्नीनि ह कर्माणि सति” इत्यादि में, वहाँ उपसर्ग नाम बत जाते हैं। अतः उनका वहाँ नाम में अन्तर्भाव हो जाता है। उनके मत में पद के चतुर्थ भेद में स्वर, पुनः आदि शब्द आते हैं जो नाम आख्यात तथा निपात से भिन्न हैं और विभक्त्यर्थ भी जिनके गर्भ में आ जाता है। अतः वे विभक्तिप्रयोग के योग्य नहीं हैं। इनको नाम नहीं कह सकते क्योंकि नाम की तरह इसमें विभक्ति का प्रयोग नहीं होता।

अर्थ के सम्बन्ध से प्रज्ञानयुक्त वाक् वाक्य कहलाती है। यह वाक्य भी नामिस्थान, प्रथम-त्रय स्थान, मुखप्रदेश-पञ्चकस्थान तथा श्रोत्रस्थान भेद से चार प्रकार का है। यह वाक् प्रज्ञान (मन) से प्रेरित होकर, नाभि से प्रारम्भ होकर दूसरे व्यक्ति के कान तक पहुँच कर उसको अर्थज्ञान करा देती है और इस प्रकार चार पदों में उपस्थित होकर विलीन हो जाती है। वाक् के इन चारों भेदों को

कर भी 'चत्वारिंशद्वाक्परिमिता पदानि" इम मत्र का समन्वय किया जा कता है।

यह वाक्य ही प्रकारान्तर से पुनं चतुष्पद है। इसका निरूपण ऐतरेय-शारण्यक में किया गया है। वे चार पद मित, अमित, स्वर तथा सत्या-नृत हैं। इनमें ऋक्, गायत्रि, कुम्ब्या मित कहलाते हैं। यजु, निगद तथा शुद्धा वाक् अमित कहलाते हैं, साम तथा गेष्ण स्वर कहलाते हैं, ओम् यह सत्य तथा 'न' यह अनृत कहलाता है। कतिपय विद्वान् सत्य और अनृत को पृथक् मानकर वाक्य के पाँच भेद भी मानते हैं। यास्क ने निरुक्त में 'तस्माद् ब्राह्मणा उभयो वाच वदन्ति या च मनुष्याणां या च देवानाम्" इस प्रकार वाक् के जो दो भेद बतलाये हैं वे सस्कृत-भाषा तथा वेदभाषा के अभिप्राय से बतलाये हैं, क्योंकि वेदभाषा को स्वर्गभाषा कहा जाता था। इन वाक्यों, पदों और अक्षरों के आरम्भक वर्ण ही होते हैं। अतः सत्रका मूल होने से आरम्भक वर्ण ही मिलाये जाने चाहिए। वे वर्ण वेदभाषा में ६७ प्रकार के हैं। इन वर्णों के समान्नाय का इम ग्रन्थ के आदि में निरूपण किया गया है।

'अक्षराणामकारोऽस्मि' इस गीतास्मृति के अनुसार एक अक्षर-वर्ण ही सब वर्णों का आदि मूल है। इस अक्षररूप अक्षर से ही भिन्न-भिन्न गुणों के समन्वय से सारा वर्णसमन्नाय उत्पन्न होता है। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है 'जो यह वाक् है, यही अक्षररूप वाक् स्पर्श तथा उष्मा (आकुचन व प्रसारण) से अभिव्यक्त होकर नाना प्रकार को हो जाती है। ऐ आ २।३।६। इस धृति में स्पर्श तथा ऊष्मशब्द, स्थान व करण के परस्पर सनिकर्षतागतम्य व विप्रकर्ष-तारतम्य के क्रमशः बोधक हैं। ये स्थान और करण बहिरग तथा अन्तरग भेद से दो प्रकार के हैं। मुखप्रदेश से बहिर्भूत अर्थात् वायु के मुख में प्रविष्ट होने से पहिले जो वायु के आश्रयभूत स्थान और करण हैं वे बहिरग कहलाते हैं। दोनों ही जगह अर्थात् बहिरग व अन्तरग में प्रयत्नविशेष से स्थान और करण का सकोच व प्रसारण होने से भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्पर्श व ऊष्मशब्द से क्रमशः सश्लेष व विश्लेष का भी बोध है। इससे स्वरों के विश्लेष (विश्लेषसहित) उच्चारण में एक मात्रा का काल लगता है। और

१ जो बतता वाच वेद यस्या एष विकार स सम्प्रतिवित्। अकारो वं सर्वा वाक् स्या स्पर्शात्मनिर्गन्धमाना बह्वी नानारूपा भवति। ऐ आ २।३।६।

सलिष्ट उच्चारण मे दो मात्रा तथा तीन मात्रा का काल लगता है। स्वरो का अवयवसकोच से घनीभाव होने पर स्वर व्यजन बन जाते हैं। वहाँ उनके उच्चारण मे अर्धमात्राकाल लगता है। इस प्रकार ये पाँच गुण (प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, बाह्यप्रयत्न, आभ्यन्तर प्रयत्न) एक अकार के अनेकाकारतासम्पादक बनकर वर्णममाम्नाय को उत्पत्ति मे कारण होते है। वर्णसमाम्नाय को उत्पत्ति के कारण इन पाँच गुणो को बतलाने के लिए इस वर्णसमाम्नाय की प्रक्रमस्थान, मुखस्थान, काल, करणप्रयत्न तथा अनुप्रदान प्रयत्न से व्याख्या करेंगे।

१ प्रक्रमस्थान से वर्णभेद—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि

तानि विदुर्ग्राह्याणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति

तुरीय वाचो मनुष्या बदन्ति ॥ ऋ १। १६४। ४५।

यह वेद मे कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणवायु वाग्रूप मे परिणत होने के लिए प्रक्रम करती हुई चार प्रक्रम-पदों की अपेक्षा करती है। वे चार प्रक्रमपद नाभि, उरस्, शिरस् और मुव है। नाभि प्राणवायु का प्रथम पद है। वहाँ से चल कर वह उर स्थल मे, कण्ठ मे या शिर स्थान मे टकरा कर प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर लेती है। उर स्थल मे या कण्ठ मे प्रथम प्रक्रम की पूर्ति होने पर वहाँ से चल कर वह शिर स्थान मे टकरा कर द्वितीय प्रक्रम को समाप्त करती है। शिर स्थान मे चलकर मुख-स्थानो मे आघात प्राप्त कर वह तृतीय प्रक्रम समाप्त करती है। मुखस्थान से फिर चतुर्थ प्रक्रम मे वह वर्ण-रूप मे परिणत होकर मुख से निकलती है। जसा कि भगवान् पारिणि ने कहा है — 'आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थो को प्राप्त कर (जानकर) उनको दूसरे

१ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् भनो युञ्जते विवक्षया ।

भन कायाग्निमाहति स प्रेरयति मास्तस् ॥१॥

मारुतस्तूरसि धरन् भद्र जनयति स्वरम् ।

कण्ठे तु मध्यम शीर्ष्ण तार जनयति स्वरम् ॥२॥

सोदीर्णो भूभ्यमिहतो वक्षत्रामापदध मास्त ।

वर्णान् जनयते तेषां विभाग पञ्चधा स्मृत ॥३॥

स्वरत कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत ।

इति वर्णविद प्रकृतिगुण स निबोधत ॥४॥

को बतलाने की इच्छा मे मन को प्रेरित करता है। मन कायाग्नि (जठराग्नि) पर आघात करता है। कायाग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है। प्राणवायु उर स्थल मे आहत होकर मन्द्रस्वर को उत्पन्न करता है। कण्ठ में टकराने पर मध्यम-स्वर को तथा शिर स्थान में टकराने पर तारस्वर को उत्पन्न करता है। वह उदीर्यं प्राणवायु शिर स्थान मे टकरा कर मुख मे पहुँचता है। और भिन्न-भिन्न स्थानो मे सयोग के कारण भिन्न-भिन्न वर्णों को उत्पन्न करता है। उन वर्णों का विभाग पाँच प्रकार से होता है। स्वर से, काल से, म्यान से, प्रयत्न से व अनुप्रदान से ऐसा वर्णरहस्यवेत्ता कहते हैं, उनको सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

वहाँ नाभि, उर स्थान तथा शिर स्थान ये तीन पद गुहानिहित हैं अर्थात् स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। और मुखस्थान वर्णों के उच्चारण मे उपयोगी है। नाभिस्थान मे प्राणवायु बनता है। उर स्थान मे वायु स्वररूप मे परिणत होती है। शिर स्थान मे स्वर ध्वनिरूप मे तथा मुखस्थानो मे ध्वनि वर्णरूप मे परिणत होती है। अतः प्रारम्भ के तीन पदो (नाभि, उरस्, व शिरस्) में वाणी के वाग् रूप प्राणवायु की वर्णरूप से अभिव्यक्ति नहीं होती। किन्तु चतुर्थ मुख-स्थान मे वाक् को स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। इस प्रतीतिगम्य अर्थ को उपर्युक्त श्रुति बतला रही है।

पहले उरस्, कण्ठ, शिरस् भेद से तीन स्थान बतलाये गये है। इन तीन स्थानो की बलतारतम्य से उपपत्ति है। वर्णों को उच्चारण करने की इच्छा से प्रयुक्त प्राणवायु कम बल से गति करता है तो उर स्थान मे उचित (मध्यम) बल से कण्ठस्थान मे तथा बलाधिक्य से शिर स्थान मे गमन करता हुआ प्रथम प्रक्रम को समाप्त कर देता है। अतः शिर स्थान मे ही जब इस प्राणवायु के प्रथम प्रक्रम की समाप्ति होती है तब तीन ही प्रक्रम-पद बनते है। मुख से बहिर्भूत इन प्रक्रमस्थानो को नारद ने सवन-नाम मे व्यवहृत किया है —

उर कण्ठ शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।

सवनाच्याहुरेतानि साग्नि चाप्यधरोत्तरे ॥

अर्थात् वाङ्मय मे उरस्, कण्ठ व शिरस् ये तीन स्थान हैं। इनको सवन कहते हैं। इन्ही तीन सवनो से त्रैस्वय की उपपत्ति होती है। अर्थात् नाभि प्रदेश से उत्थित वायु यदि उर स्थान मे पहुँच कर तत्पश्चात् आगे चल कर मुख मे

आकर वणभाव मे परिणत होता है, तो उस वायु का यह प्रक्रम प्रात सवन कहलाता है। वहाँ मन्द्रस्वर उत्पन्न होता है। वह स्वर उर स्थानीय अनुदात्त है। यदि कण्ठ म टकरा कर फिर मुख-प्रदेश मे पहुँच कर वर्ण-रूप मे परिणत होता है, तो मध्यन्दिन सवन होता है। वहाँ मध्यम स्वर उत्पन्न होता है। वह कर्णमूलीय स्वरित स्वर होता है। यदि उस वायु का प्रथम प्रक्रम शिर स्थान मे समाप्त होता है तो वह तृतीय सवन कहलाता है। वहाँ तार स्वर उत्पन्न होता है वह स्वर शीर्षस्थानीय उदात्त है। प्रात काल मन्द्र (अनुदात्त) वाणी से पाठ करे, मध्यन्दिन सवन मे मध्यम वाणी से तथा तृतीय सवन मे तार (उदात्त) वाणी से पठन करें। इसीलिए भगवान् ऐतरेय ने कहा है —

१जब यह सूर्य प्रात उदित होता है, तब प्रमद तपता है, अत प्रात सवन मे मन्द्र (अनुदात्त वाणी से) ऋद्धमन्त्र का उच्चारण करे। जब सूर्य आगे बढ़ता है तब ताव्रता से तपता है, अत मध्यन्दिन सवन में तीव्र वाणी से शसन करे। जब सूर्य और भी आगे बढ़ता है तब और भी तीव्रता से तपता है, अत तृतीय सवन मे तीव्रतम (उदात्त) वाणी से शसन करे।

२पाणिनि ने भी कहा है कि प्रात काल सिंह स्वर के सदृश उर स्थान स्थित स्वर से मन्त्रों का पाठ करे, मध्याह्न मे चकवे के शब्द के सदृश कण्ठस्थान-स्थित स्वर से पाठ करे और साय सवन मे मयूर, हंस तथा कोकिल के स्वर क

१ "यदा वा एष प्रातश्चेति—अथ मद्र तपति ।
तस्मात् मद्रया वाचा प्रात सवने शसेत् ॥१॥
अथ यदाऽम्भेति—अथ बलीयस्तपति ।
तस्माद् बलीयस्या वाचा मध्यदिने शसेत् ॥२॥
अथ यदाऽमितरामेति—अथ बलिष्ठतम तपति ।
तस्मात् बलिष्ठतमया वाचा तृतीयसवने शसेत् ॥३॥
अदि याच ईशीत । याग् हि शक्यम् । यथा तु वाचोत्तरोत्तरं ष्वोत्तमहेतु —
समापनाय, तथा प्रपद्येत । एतत् सुशस्ततममिव भवति ।" (ऐ वा १४ अ ४४)

२ प्रात पठन्नित्यमुः स्थितेन । स्वरेण शार्दूलस्तोपमेन ।
मध्यदिने कण्ठपतेन च चक्राह्वसकूजितसनिभेन ॥१॥
तार तु विश्रान् सवन तृतीय शिरापन तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहसान् वृतास्वराणां तुल्येन नादेन शिर स्थितेन ॥२॥

सदृश जिर स्थानस्थित नाद मे पाठ करे, अर्थात् सायकाल तृतीय सवन मे शिर म्यित स्वर का प्रयोग करना चाहिए। उपरिवोचित सवनो मे प्रतिपादित स्वर के या नाद के विरुद्ध मे उच्चारण करने वाले पुष्पो का उदात्तप्रधानता मे उरक्षत, स्वरितप्रधानता मे स्वरभङ्ग तथा अनुदात्तप्रधानता मे मूर्च्छा हो जाती है।

सवनो के अनुसार तथा पदानुमार सब स्वरो का उच्चावचभाव (निम्नोन्नतभाव) मे उच्चारण करने पर उच्चारण म सुन्दरता प्रतीत होती है। प्रक्रम भेद से तीन स्वरो का भेद होता है। तीन स्वरो के भेद से अकारादि अक्षरो के भी तीन भेद हो जाते है। ये तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

कोई तीन स्वरो मे भिन्न एक प्रचयनामक स्वर की सत्ता और मानते है। इसीलिण पाणिनि ने कहा है -

'हृदयस्थान म अनुदात्त का, शिर स्थान मे उदात्त का, कर्णमूल न स्वरित का तथा आस्य (मुव) मे प्रचय स्वर का उच्चारण होता है ॥१॥

प्रदेशिनी को उदात्त, मध्याङ्गुलि को प्रचय, अनामिका को स्वरित तथा कनिष्ठिका को अनुदात्त समझना चाहिए ॥२॥

यद्यपि प्रदेशिनी के मूलभाग पर रखा हुआ अगुष्ठ उदात्त को, अनामिका के मध्य मे अगुष्ठ स्वरित को तथा कनिष्ठिका के अन्तिम भाग पर रखा हुआ अगुष्ठ अनुदात्त को बोधित करता है। इम वचन मे प्रचय-स्वर का उल्लेख नहीं किया है, तथापि पाणिन्यादि वाक्यो से मध्यमा अगुलि मे उसका निर्देश मिलता है। अत उमे मानना ही चाहिए।

"उच्चंस्तरा वा वपट्कार । इत्यादि वचनो मे उदात्ततर स्वर का भी

१ अनुदात्तो हृदि जेयो मूर्ध्युदात्त उदाहृत ।

स्वरित कणमूलीय सर्वास्ये प्रचय स्मृत ॥१॥

उदात्त प्रदेशिनी विद्यां प्रचय मध्यतोऽङ्गुलिम् ।

कनिष्ठा निहत विदधात् स्वरित चाप्यनामिकाम् ॥२॥

२ उदात्तमायाति वृषोऽङ्गुलीना प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्धा ।

उपान्त्यमध्ये स्वरित घृत च कनिष्ठिरायामनुदात्तमेव ॥

उल्लेख मिलता है इसी तरह अनुदात्ततर स्वर का भी । क्योंकि उदात्ततर स्वर की तरह अनुदात्ततर स्वर को मानना भी उचित है । इसीलिए भगवान् नारद ने कहा है—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा निघात ये पाँच स्वर के भेद हैं । एक श्रुति भी भिन्न स्वर है । इसीलिए 'एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ' यज्ञकर्मण्यजपन्मूढसामसु । इत्यादि सूत्रो म त्रस्वर्यं को बोध कर एकश्रुति का विधान किया है ।

वस्तुतः ये उदात्तरादि स्वर त्रैस्वर्यं से भिन्न नहीं हैं । क्योंकि उदात्त का तरतमभाव से उच्चारण करने पर उदात्ततर, उदात्त व प्रचित ये तीन भेद हो जाते हैं । अतः स्वर की सूक्ष्मता के प्रदर्शन के अनुरोध से तीन भेद होने पर भी उदात्ततर और प्रचित उदात्त में पृथक् नहीं है । जैसा कि भगवान् नारद ने कहा है—उदात्त ही स्वरित से परे होने पर प्रचय कहलाता है, वह पृथक् स्वर नहीं है ।

उदात्त और स्वरित के मध्यवर्ती होने से प्रचित स्वर को कितने ही उदात्त मानते हैं । दूसरे प्रचित का स्वरित में अन्तर्भाव मानते हैं । जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—^३उच्च (उदात्त) तथा अनुदात्त के योग होने पर स्वरित स्वर कहलाता है । उनकी एकता को प्रचय-स्वर कहते हैं । एकश्रुति भी त्रैस्वर्यं व्यवस्था का अपवाद है, त्रैस्वर्यं का नहीं । बिना त्रैस्वर्य के तो अक्षर का उच्चारण ही नहीं हो सकता । अतः स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित तीन ही हैं । शेष सभी स्वरों का इन्हीं में अन्तर्भाव है ।

साममन्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद भेद से जो सात स्वर बतलाये गये हैं वे भी उदात्त,ादि तीन स्वरों से अतिरिक्त नहीं हैं ।

१ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित प्रचितस्तथा
निघातश्चेति विज्ञेय स्वरभेदास्तु पञ्चधा ॥

२ य एवोदात्त इत्युक्तं स एव स्वरितश्चर ।
प्रचय प्रोच्यते तज्जोन चात्रायत् स्वरातरम ॥

३ उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरित स्वर उच्यते ।
ऐष्य तत्प्रचयं प्रोचत सधियेषां मिथोज्ज्वुत ॥

ऋषिक्रि निपाद व गान्धार उदात्तप्रभव, ऋपभ व धँवत अनुदात्तप्रभव तथा पड्ज, मध्यम व पचम स्वरितप्रभव माने गये हैं। इस प्रकार पाणिन्यादि ने उन सातो का उदात्तादि तीन स्वरो मे ही अन्तर्भाव कर दिया है। याज्ञवल्क्य आदि ने भी इसी तथ्य को स्वीकृत किया है। उन्होंने कहा है कि ऋग्वेद वेद मे जो पड्ज आदि मात्र स्वर बतलाये गये हैं, वे ही वेद के उदात्तादि तीन स्वर हैं। निपाद व गान्धार को उदात्त, ऋपभ तथा धँवत को अनुदात्त, पड्ज, मध्यम व पचम को स्वरित जानना चाहिए।

वस्तुतः तो उदात्तादि स्वरो का कारण प्रक्रमगन उच्चत्व नीचत्वादि हैं। तथा पड्जादि स्वर ध्वनिरागभेद-मूलक हैं। यही उदात्तादि तथा पड्जादि स्वरो मे मौलिक भेद है। जैना कि नारद ने कहा है—

ऋयूग् पड्ज स्वर म बोलता है, गाये ऋपभ स्वर म रभाती है। अज और अवि गान्धार का उच्चारण करते हैं। नीच म यम स्वर तथा वसन्त मे कोकिल पचम स्वर बोलती है। घोडा धँवत तथा हाथी निणद स्वर का उच्चारण करता है। इन पड्जादि स्वरो के उच्चारणोपयोगी म्यानो का निर्देश विशेष रूप मे नारदशिक्षा मे किया गया है। ये सातो स्वर मगीत मे उपयोगी हैं। साधारण उच्चारण म इनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। अतः इनका विशेष विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। सर्वसाधारण उदात्तादि तीन स्वर ही हैं। इन तानो स्वरों मे लिपिभेद यद्यपि नहीं है, तथापि अनुदात्त को अक्षर के नीचे तिरछी रेखा (ऋ) के द्वारा, स्वरित को ऊपर तिरछी रेखा (ँ) के द्वारा,

- १ उदात्ते निपादगांधारावनुदात्त ऋपमधँवतो ।
स्वरितप्रमया ह्येते पड्जमध्यमपचमा ॥
- २ गांधववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः ।
त एव मेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः ॥
उच्चो निपादगांधारी नीचाधृपुरुधवती ।
गेपास्तु स्वरिता येया षडत्रमध्यमपचमा ॥
- ३ पड्ज वदति मपूरो गाय रभन्ति चदमम् ।
अजाविके तु गांधार व्रीचो वदति मध्यमम् ॥
पुष्पसाधा ऐ बाले धोक्वितो वक्ति पचमम् ।
अश्वस्तु धवत ववित निपाद धवित कुञ्जर ॥

उदात्त को ऊपर दण्डाकार रेखा ($\overset{1}{\text{अ}}$) के द्वारा तथा प्रचय को स्वरित व उदात्त की मिली हुई रेखाओं ($\overset{1}{\text{अ}}$) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्वरों को यह अनुभवगम्य त्रिविधता प्रक्रमभेद के द्वारा मालूम करनी चाहिए।

२ मुखस्थान से वर्णभेद

सयोग, विभाग व शब्द से शब्द को उत्पत्ति भगवान् वणाद बतलाते हैं। वहाँ सयोग में जो स्यायी भाव है वही सयोग का प्रतियोगी है। इसे ही स्थान कहते हैं। सयोग में जो सचारी भाव है वही सयोग का अनुयोगी है। उसे करण कहते हैं। ये स्थान और करण बाह्य आम्यन्तर भेद से दो प्रकार के हैं। वायु के प्रक्रम में मुख में आने से पहिले जो वायु के स्थान और करण हैं वे बाह्य हैं। और मुखप्रदेश के अन्दर वर्तमान स्थान और करण आम्यन्तर कहलाते हैं। बाह्य स्थान उर, कण्ठ व गिरोभेद से तीन हैं। मुख में कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठभेद से पाँच स्थान हैं। जिह्वा का मूलभाग कण्ठ है। मुख में दन्त व उलूल स्थान के पूर्व भीतरी प्रदेश में भुका हुआ जो प्रदेश है उसका पूर्व पार्श्व तालुमूलस्थान है। उसी का पश्चिमपार्श्व मूर्धा स्थान है। उसके अत्यन्त समीप का पश्चिम भाग दन्तमूल स्थान है। उत्तर (ऊपर का) ओष्ठ ओष्ठ-स्थान है। इन पाँचो स्थानों में क्रमशः जिह्वामूल, जिह्वामध्यमभाग, जिह्वा का उपाग्र भाग, जिह्वा का अग्रभाग तथा अक्षरोष्ठ इन पाँचों करणों का सयोग होने पर सब वर्ण उत्पन्न होते हैं।

वायु जिस मात्रा में जिस प्रक्रम से आरम्भ होकर कण्ठ स्थान में पहुँच कर अकार बनती है। उसी मात्रा में उसी प्रक्रम से आरम्भ होकर तालुस्थान में पहुँच कर वह इकार बनती है। इसी प्रकार मूर्धस्थान में ऋकार, दन्तमूल में लकार तथा ओष्ठ में उकार बनती है। एक ही प्राणवायु भिन्न-भिन्न स्थानों में पहुँच कर अकार, इकार, ऋकार, लकार व उकार इन भिन्न-भिन्न स्वरूपों में परिणत हो जाती है। अतः एक ही अकार अक्षर के, स्थानभेद के कारण ये पञ्चविध रूप बन जाते हैं। यहाँ प्रक्रमभेद से भिन्न-उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों का समान रूप से कण्ठादि स्थानों से सम्बन्ध है। अतः इनके पाँच ही स्थान सिद्ध होते हैं। उदात्तादि भेदों के कारण स्थानादि का भेद नहीं होता।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि मुखादिकण्ठभाग में कृकाटिका, जिह्वामूल व कण्ठमूल ये तीन स्थान हैं। मुखमध्यभाग में तालु, मूर्धा व दन्तमूल ये तीन स्थान हैं। मुखान्त्यभाग में सूक्का, उपध्मा व ओष्ठ ये तीन स्थान हैं। सारे मुख में अनुगत नासानाडी नासिका स्थान है। इस प्रकार वर्णों के दश आभ्यन्तर स्थान हैं। इनमें सूक्का व उपध्मा, जो कि ओष्ठ के पाम हैं, का ओष्ठ में ही अन्तर्भाव है।

भगवान् पारिणि ने उर, कण्ठ, शिरस्, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु ये आठ वर्णस्थान बतलाये हैं। उनमें उपर्युक्त कण्ठ, तालु, शिर, दन्त, ओष्ठ इन स्थानों से उरस, जिह्वामूल तथा नासिका ये तीन अधिक हैं। इनमें 'वर्णों के पंचम वर्णों तथा अन्तस्थ वर्णों से सयुक्त हकार का (उर स्थान) है तथा असयुक्त हकार का कण्ठस्थान है। इस नियम के अनुसार ह्र, ह्र, ह्र, ह्र, ह्र, ह्र में हकार का उर स्थान है। ङक ङख में ककार व खकार से पूर्व उच्चारित अर्ध-विभग-सदृश हकार का जिह्वामूल स्थान है। ये दोनों स्थान कण्ठ के समीपस्थ अवान्तर प्रदेश होने से कण्ठ में ही अन्तर्भूत हैं। इसी प्रकार कृकाटिकामूल, जिह्वामूल व कण्ठमूल के कण्ठ के अवान्तरप्रदेश होने से कण्ठ स्थान से ही इनका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार पाँच ही स्थान अवशिष्ट रहते हैं। नासिका का भी कण्ठादि पाँच स्थानों से युक्त होने के कारण कण्ठादि स्थानों के समीप होने से कण्ठादि स्थानों से ही उसका ग्रहण है और उन्हीं में उसका अन्तर्भाव है। इस प्रकार अवान्तर भेदों को पृथक् स्थान मानने पर दश और संक्षेप में पाँच ही स्थान हैं। नासिकास्थान का इतर पाँच कण्ठादि स्थानों के साथ कोई विरोध न होने से मुख तथा नासिका से उच्चारित पाँच स्वर और बन जाते हैं—अँ-इँ-ऋँ-लृँ-उँ। ये पाँच अनुनासिक स्वर हैं। नकार व लृकार में स्वरभक्ति के नासिक्य होने से अनुनासिकता है।

३ काल से वर्णभेद

अकार के उच्चारण में जितना काल लगता है उस काल को माना कहते

- १ अर्धो स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ शिरस्तथा ।
जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकोऽथ च तालु च ॥
- २ हकार पञ्चमर्षुंस्तम-स्थानिश्च सयुतम् ।
श्रीरस्य त विज्ञानीयात् कण्ठमाहुःसयुतम् ॥

है। 'ऋद्वजि ने निमेषकाल को तथा 'नारद ने निमेषकाल अथवा विद्युद्दुमेष काल को मात्रा कहा है। इस मात्रा के तारतम्य से वर्णों की मात्राओं का नियमन है। अकार जब अकार से मिलता है तब परतोयोग से वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ हो जाता है। द्विमात्रिक को ही दीर्घ कहते हैं। अकार का जब आकार से मेल होता है तब वह स्वभाव से अभिनिहित हो जाता है। दोनों स्वरो के नाभिद्वय की एकता ही अभिनिधान है। अधिक बलवाले में स्वल्प बल वाले का विलयन स्वाभाविक है। अतः अकार की आकार से सन्धि (मेल) होने पर अधिक बल वाले द्विमात्रिक दीर्घ आकार में एकमात्रिक ह्रस्व अकार का विलयन होकर आकारमात्र ही शेष रह जाता है वह त्रिमात्रिक नहीं होने पाता। आकार का अकार से या आकार से मेल होने पर दोनों वर्णों के नाभिद्वय के सम्बन्ध से अभिनिधान हो जाता है। अतः द्विमात्रिकता ही उममें रहती है, त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती। व्योमि परतोयोग के बिना वर्ण में त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती। प्रयत्नविशेष के द्वारा परतोयोगविवक्षा में तो त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता भी बन सकती है। त्रिमात्र या चतुर्मात्र अक्षर की प्लुतसज्ञा होती है। इस प्रकार मात्रा के तारतम्य से अकार के ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये तीन भेद हो जाते हैं। एक मात्रा से उच्चारित अकार ह्रस्व, द्विगुण मात्रा से उच्चारित दीर्घ तथा त्रिगुण या उससे अधिक मात्रा से उच्चारित स्वर प्लुत कहलाना है। इस प्रकार इकारादि वर्णों में मात्रातारतम्य के कारण यह त्रिविधता होती है। लृकार में द्विमात्रता नहीं होती। अतः जहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध अकारादि वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से प्रत्येक के तीन भेद होकर ९, ९ भेद हो जाते हैं, वहाँ लृकार के ६ ही भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही अकार के प्रक्रम-भेद से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद, पाँच स्थानों के भेद से अ, इ, ये भेद तथा मात्राभेद स ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद होते हैं। ये अर्थात् निरनुनासिक अकार के हैं। इतने ही भेद सानुनासिक के प्रकार ८४ भेद अकार के हो जाते हैं।

१ निमेषकालो मात्रा स्यात् ।

२ निमेषकालो मात्रा स्यात् विद्युत्कालेति

४ आभ्यन्तर प्रयत्न से दर्शभेद

मुख के अन्दर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ इन पाँचो स्थानो मे जिह्वामूलभाग आदि करणो का सयोग के लिए जो प्रयत्न है, उमे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा विवृत भेद से दो प्रकार का है। जिम प्रयत्न से स्थानो मे करणो के स्पर्श का तारतम्य होता है, उमे स्पृष्ट प्रयत्न कहते है —

- (१) अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये अस्पृष्ट स्वर हैं।
- (२) ङ य र ल व — ये ईषत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।
- (३) अ ष ड द व — ये दु स्पृष्ट अन्त स्थ वर्ण हैं।
- (४) ग ज ङ द व — ये मृदुस्पृष्ट स्पश वर्ण हैं।

विवृत को विवरण या सप्रसारण कहते है। जिस प्रयत्न से स्थानो से सयोगकाल मे करण तरतमभाव से (न्यूनाधिक भाव से) सम्प्रसारित होते है, वह स्पश विरोधी धम विवृत कहलाता है। अत विवृत प्रयत्न मे स्पर्श का अभाव होता है। इसीलिए अ, इ, ऋ, लृ, उ — ये पूरा विवृत स्वर हैं। इनमें स्थान व करण के स्पर्श का सर्वथा अभाव है। स्थानो मे करण स्पर्श के लिए जितना प्रयत्न करते है, उतनी ही विवृत प्रयत्न मे कमी आती है। स्पश की न्यूनाधिकता से विवृत मे न्यूनाधिकता होती है।

सम्प्रसारित स्थान करण वाले वर्णो मे एक-एक वरा की जितनी मात्रा होती है, उसके अर्वाश का ह्राम होने पर विवृताध प्रयत्न द्वारा इनम मन्त्रोच हो जाता है। और तब वे एरुमात्रिकतारूप स्वर से न्युत होकर अर्धमात्रिक व्यजन हो जाते हैं। जैसे— ङ य र ल व ये अर्धविवृत अन्तस्थ वर्ण व्यजन है। इन पाँचो अन्तस्थवर्णो म प्रथम वर्ण विवृति है। यह अर्धमात्रिक वर्ण है। अभिनिधान, सन्ध्यक्षर, उष्मान्त स्थ गति म विवृति होती है। जैसे— हरेऽव, विष्णोऽव यह अभिनिधान स्थान है। ए, ओ ये सन्ध्यक्षर स्थान है। इकार व अकार की म वि होने पर जमे इकार पर अर्ध मात्रा से च्युत हो जाता है। उमी प्रकार अकार व इकार की मन्धि होने पर पूव अकार, पर अर्धमात्रा मे रहित होकर अर्धमात्र अकार शेष रह जाता है। जैसा कि पाणिनि ने कहा है—

हे । 'श्रीदयजि ने निमेषकाल को तथा 'नारद ने निमेषकाल अथवा विच्छुद्धि काल को मात्रा कहा है । इस मात्रा के तारतम्य से वर्णों की मात्राओं का नियमन है । अकार जब अकार से मिलता है तब परतोयोग से वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ हो जाता है । द्विमात्रिक को ही दीघ कहते हैं । अकार का जब आकार से मेल होता है तब वह स्वभाव से अभिनिहित हो जाता है । दोनों स्वरों के नाभिद्वय की एकता ही अभिनिधान है । अधिक बलवाले में स्वरप बलवाने का विनयन स्वाभाविक है । अतः अकार की आकार से मधि (मेल) होने पर अधिक बल वाले द्विमात्रिक दीर्घ आकार में एकमात्रिक ह्रस्व अकार का विलयन होकर आकारमात्र ही शेष रह जाता है वह त्रिमात्रिक नहीं होने पाता । आकार का अकार से या आकार से मेल होने पर दोनों वर्णों के नाभिद्वय के सम्बन्ध से अभिनिधान हो जाता है । अतः द्विमात्रिकता ही उसमें रहती है, त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती । क्योंकि परतोयोग के बिना वर्ण में त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता नहीं आती । प्रयत्नविशेष के द्वारा परतोयोगविवक्षा में तो त्रिमात्रता या चतुर्मात्रता भी बन सकती है । त्रिमात्र या चतुर्मात्र अक्षर की प्लुतसज्ञा होती है । इस प्रकार मात्रा के तारतम्य से अकार के ह्रस्व, दीघ व प्लुत ये तीन भेद हो जाते हैं । एक मात्रा से उच्चारित अकार ह्रस्व, द्विगुण मात्रा से उच्चारित दीर्घ तथा त्रिगुण या उससे अधिक मात्रा से उच्चारित स्वर प्लुत कहलाना है । इस प्रकार इकारादि वर्णों में मात्रातारतम्य के कारण यह त्रिविधता होती है । लृकार में द्विमात्रता नहीं होती । अतः जहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध अकारादि वर्णों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से प्रत्येक के तीन भेद होकर ६, ६ भेद हो जाते हैं, वहाँ लृकार के ६ ही भेद होते हैं । तात्पर्य यह है कि एक ही अकार के प्रक्रम-भेद से उदात्त, अनुदात्त व स्वरित भेद, पाच स्थानों के भेद से अ, इ, ऋ, लृ उ ये भेद तथा मात्राभेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन भेद होते हैं । ये ४२ भेद विशुद्ध अर्थात् निरनुनासिक अकार के हैं । इतने ही भेद सानुनासिक के होते हैं । इस प्रकार ८४ भेद अकार के हो जाते हैं ।

१ निमेषकालो मात्रा स्यात् । इत्योदयजि ।

२ निमेषकाचो मात्रा स्यात् विच्छुत्कालेति चापरे । नारद ।

४ आभ्यन्तर प्रयत्न से दणभेद

मुख के अदर कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ इन पाँचो स्थानो मे जिह्वा मूलभाग आदि करणो का सयोग के लिए जो प्रयत्न है, उमे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट तथा विवृत भेद मे दो प्रकार का है। जिन प्रयत्न से स्थानो मे करणो के स्पर्श का सारसम्भ होता है, उमे स्पृष्ट प्रयत्न कहते हैं —

- (१) अ, इ, ऊ, लृ, उ — ये अस्पृष्ट स्वर हैं।
 (२) ऽ य र ल व — ये ईपत्स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।
 (३) अ व ड द व — ये दु स्पृष्ट अन्तस्थ वर्ण हैं।
 (४) ग ज ड द व — ये मृदुस्पृष्ट स्पर्श वर्ण हैं।

विवृत को विवरण या सप्रसारण कहते हैं। जिन प्रयत्न से स्थानो मे मयोगकाल मे करण तरतमभाव से (न्यूनाधिक भाव से) सम्प्रसारित होते हैं, वह स्पर्श विरोधी वम विवृत कहलाता है। अत विवृत प्रयत्न मे स्पर्श का अभाव होता है। इसीलिए अ, इ, ऊ, लृ उ — ये पूर्ण विवृत स्वर हैं। इनमें स्थान व करण के स्पर्श का सर्वथा अभाव है। स्थानो मे करण स्पर्श के लिए जितना प्रयत्न करते है, उतनी ही विवृत प्रयत्न मे कमी आती है। स्पर्श की न्यूनाधिकता से विवृत मे न्यूनाधिकता होती है।

सम्प्रसारित स्थान करण वाले वर्णो मे एक-एक वर्णो की जितनी मात्रा होती है, उसके अर्धांश का ह्रास होने पर विवृतार्ध प्रयत्न द्वारा इनमे मजोच हो जाता है। और तब वे एकमात्रिकतास्व स्वर से न्युत होकर अर्धमात्रिक व्यजन हो जाते हैं। जैसे— ऽ य र ल व ये अधविवृत अन्तस्थ वर्ण व्यजन हैं। इन पाँचो अन्तस्थवर्णो मे प्रथम वर्ण विवृति है। यह अधमात्रिक वर्ण है। अभिनिधान, सन्ध्यक्षर, उष्मान्त स्थ गनि मे विवृति होती है। जैसे— हरेज्व, विष्णोज्व यह अभिनिधान स्थान है। ए, ओ ये सन्ध्यक्षर स्थान है। इकार व अकार की मर्ध होने पर जैसे इकार पर अर्ध मात्रा से च्युत हो जाना है। उसी प्रकार अकार व इकार की मर्ध होने पर पूव अकार, पर अर्धमात्रा मे रहित होकर अधमात्र अकार शेष रह जाता है। जैसा कि पाणिनि ने कहा है—

‘एकार, ओकार मे कण्ठस्थानीय अकार की अर्धमात्रा ही शेष रहती है। यह अकार अर्धमात्र होने से व्यजन है। और पूर्ण स्पृष्ट न होने से स्वर भी है। इस प्रकार स्वर व व्यजन दोनों के धर्मों के सम्बन्ध से यह अन्तस्य कहलाता है। विवृत्ति का तीसरा स्थान उष्मान्तस्यगति है। जैसे—‘सदद्य इह, हर इह, विष्ण इह’ इन उदाहरणों मे है। ‘सदद्य इह’ में ऊष्म हकार या विमग अर्धमान विवृत्यकार हो जाता है। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

‘हकार की-श्रोभाव, विवृत्ति, श, प, स, रेफ, जिह्वामूल और उपध्मा ये = गतियाँ हैं। वह विवृत्यकार व्यजन है। उसके वारण पूर्व अकार तथा इकार का विच्छेद हो जाने से उनमे स्वरसन्धि नहीं होती। इसी प्रकार हर इह, विष्ण इह, इन उदाहरणों मे अन्तस्य य और व विवृत्यकार बन गये हैं। उस व्यजन से विच्छेद होने के कारण स्वरसन्धि नहीं होती है। यहाँ विवृत्ति का स्वरूप दोनों स्वरो के मध्य मे विच्छेद ही है। शाकल्य ने यहाँ य और व का लोप माना है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि वणलोप होने पर स्वरसन्धि अवश्य होती। वैयाकरणों द्वारा कल्पित ‘पूर्वत्रासिद्धम्’ सूत्र मे यकार-लोपादि को असिद्ध मानकर सन्ध्यभाव बतलाना शालशिक्षोपयोगी कल्पनामान है। क्योंकि शास्त्रीय प्रक्रियाविशेष की शब्दोच्चारणविशेष के आधान मे साम्य नहीं है। शास्त्र केवल शब्द की स्थिति का बोधक होता है न कि शब्दस्थिति का जनक। इसलिए ‘हर इह’ इत्यादि स्थानो मे यकारादि-लोप प्रक्रिया से पाणिनि को सतोप नहीं हुआ और उन्होंने ‘लोप शाकल्यस्य’ कहा। अर्थात् लोप द्वारा सन्ध्यभाव का प्रतिपादन शाकल्य का मत है न कि पाणिनि का। पाणिनि के मत मे तो य और व के स्थान मे विवृत्ति रूप वणदिग होता है। उस विवृत्यकार के द्वारा विच्छेद होने से अकार व इकार मे सन्धि नहीं होती। इन अन्तस्य वणों का मुख व नासिका दोनों स्थानों से उच्चारण करने पर ये व लं एमे अनुनासिक वण होते हैं। रेफ नासिक्य नहीं होता। और विवृत्ति भी नासिक्य नहीं होती। अ य ड ळ व ये ईपद्विवृत अन्तस्थ वण हैं। इनमे पहिला वण ‘अ’ सबृत अकार है। ‘ऐ’, और ‘ओ’ मे जो अकारोच्चारण की प्रतीति होती है वह सबृत अकार है। इसीलिए पाणिनि ने कहा है —

१ अर्धमात्रा तु कण्ठस्थस्य एकारोच्चारणोभवेत् । पा० शि० ।

२ श्रोत्रावगच्छ विवृत्तिश्च उपसा रेफ एव च ।

जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मण ॥ पा० शि०

‘एकार व ओकार मे आजी माना कण्ठ्य वर्ण की तथा ऐकार व औकार मे भी आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार को है। वे चारो वर्ण विवृत व सवृत उभयात्मक हैं। सवृत एरुमात्रिक होता है और विवृत द्विमात्रिक होता है।

३पाणिनि ने स्वरो व ऊर्ध्व वर्णों का विवृत करण माना है। ए और ओ को विवृततर तथा ऐ औ को विवृततम बतलाया है। वह सन्ध्यक्षरता के कारण बतलाया है। और सवृतत्वकथन ओकार के एक प्रदेश (अकार) की अपेक्षा से किया है। एकारादि सन्ध्यक्षरो मे सवृत अन्त स्थ अकार मध्यम मे विद्यमान है अत इन मे स्वरत्व नहीं रहेगा यह भ्रम निराधार है। क्योंकि विवृततरत्व व विवृततमत्व के कारण उनका स्वरत्व अक्षुण्ण है। म्लेच्छ भाषा-लिपि मे भी दो प्रकार के अकार हैं। जैसे—पारसी लिपि मे विवृत अकार का (।) अलिपि शब्द से तथा सवृत अकार का ‘अयन’ ‘ऽ’ शब्द से उल्लेख किया है। ‘अ अ’ इस सूत्र का निर्माण करते हुए भगवान् पाणिनि ने भी प्रकार के इस द्वैविध्य का उपदेश किया है। उन दोनो अकारो मे सवृत अकार अन्तस्थ है क्योंकि वह व्यजन है। और दूसरा अकार स्वर होने से विवृत है क्योंकि ३स्वर और ऊर्ध्व वर्णों का विवृत प्रयत्न पाणिनि ने बतलाया है।

‘ऐ औ’ इत्यादि में पृथक् रूप से अकारोच्चारणप्रतिबन्ध के लिए उसके उच्चारण मे प्रयत्नविशेष की अपेक्षा होने से ऐकार औकार के अन्तगत अकार को दु स्पृष्ट अकार मानना चाहिये। ईपत्स्पृष्ट व पूर्ण स्पृष्ट वर्णों के बीच मध्यम वृत्ति से स्पर्शसिद्धि के लिए प्रयत्नविशेष की वहाँ अपेक्षा है। ग, ज, ड, द, व विवृत रहित स्पर्श हैं। यदि ये पाँचो स्पर्श वर्ण मुख व नासिका दोनो स्थानो से उच्चारित किये जाते है तो स्थान-द्वय-योगी बनकर ङ, ञ, ण, न, म ये वर्ण बन

- १ अधमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारोकारयोर्भेदः ।
ऐकारोकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसवृतम् ॥
सवृत मात्रिक ज्ञेय विवृत तु द्विमात्रिकम् । (पा० शि०)
- २ स्वराणामूर्ध्वरा चैव विवृत करण स्मृतम् ।
तेन्योऽपि विवृतावेहो ताम्यामचो तथैव च ॥ पा णि
- ३ स्वराणामूर्ध्वरा चैव विवृत करण स्मृतम् । पा शि ।

जाते हैं। शुद्ध स्पर्शों की तरह ये नासिक्य वर्ण भी पूर्ण स्पृष्ट व विवृतप्रयत्न-रहित ही हैं।

५ बाह्य-प्रयत्न से वर्णभेद

वर्णरूप में परिणत होने में पूर्व की अवस्था में विद्यमान वर्णों का उपादानभूत वायु अनुप्रदान कहलाता है। मुख स्थान से वहिर्भूत उर, कण्ठ व शिर स्थान में संयोग के लिए वर्णोपादानभूत वायुरूप अनुप्रदान का जो प्रयत्न है, वह बाह्य प्रयत्न है। यह बाह्य प्रयत्न दो प्रकार का है सवार, नाद, घोष भेद से तीन प्रकार का प्रथम है और विवार, श्वास, अघोष भेद से त्रिरूप द्वितीय है। जिस उच्चारण में अनुप्रदान मृदु होने से बाह्य नली को फँलने नहीं देता है वह सवार कहलाता है। और खर होने से जो अनुप्रदान कण्ठनली को फँला देता है वह विवार है। जिस उच्चारण में वर्णस्वरूप का आरम्भ करने के लिए अनुप्रदान में वायु की मात्रा अधिक होती है और प्राणरूप अग्नि की मात्रा कम होती है उसे श्वास प्रयत्न कहते हैं तथा प्राणरूप तेज की मात्रा जहाँ अधिक और वायु की मात्रा न्यून होती है, उसे नाद कहते हैं। जिस प्रयत्न में दृढ अग-वन्धन से उच्चारित वर्ण में प्रतिध्वनियोग्यता कम होती है, वह अघोष कहलाता है तथा जिस प्रयत्न में शिथिल अगवन्ध के कारण वर्ण में प्रतिध्वनियोग्यता अधिक होती है उसे घोष कहते हैं। इनमें सवार, नाद व घोष परस्पर उपकारक होने से अविनाभूत है। अर्थात् जहाँ एक रहता है वहाँ वेप दो भी अवश्य रहते हैं। अतः इन प्रयत्नों के सरया में ६ होने पर भी तीन-तीन के परस्पर अविनाभूत होने से वस्तुतः अनुप्रदान प्रयत्न के दो ही भेद हैं। इसलिए सवार, नाद, घोष रूप बाह्य प्रयत्न वाले अ, य, र, ल, व, अ, य, ड, ङ, व, ग, ज, ड, द, ब, ड, ञ, ए, ण, म वर्ण सिद्ध हो जाते हैं। ये ही वर्ण जब विवार श्वास अघोष रूप अनुप्रदान से युक्त होते हैं तब क, च, ट, त, प हो जाते हैं। विवार, श्वास, अघोष प्रयत्नों का नासानाडो से विरोध है अतः क, च, ट, त, प, नासिक्य नहीं होते। अतः ड, ञ, ण, न, म वर्ण भी जब श्वास प्रयत्न से युक्त होंगे, तो विगुद व च, ट, त, प में ही परिणत होंगे न कि नासिक्य क, च, ट, त, प में।

*प्राणिनि ऽ य र ल व इन अन्तस्य वर्णों तथा ग, ज, ड, द, व इन वर्णों

ईवन्नादा यए जगो नादिनो हभ्य स्मृता ।

ईवच्च्वासांश्चो विद्यात् श्वासिनस्तु सफावय ॥ (पा० णि०)

श्वाम है। पूर्ण स्पृष्ट प्रयत्न वाले क, च, ट, त, प वर्ण यदि आभ्यन्तर प्रयत्न में अर्द्धस्पृष्ट रूप से उच्चारित होते हैं तो वे श, ष, स, ह ये ऊष्म वर्ण हो जाते हैं। यद्यपि क, च, ट, त, प पाँच वर्ण हैं और ऊष्म वर्ण श, ष, स, ह भेद से चार हो हैं, तथापि अर्ध स्पृष्टरूप से उच्चारण करने पर क और प दोनो वर्ण हकाररूप में ही परिणत होते हैं, अतः ऊष्म वर्ण चार ही हैं। श, ष, स, ह ये नासिक्य नहीं होते। क्योंकि विवार, श्वास व अदोष बाह्य प्रयत्न नासा नाडी के विरोधी है। पाणिनि ने भी 'अमोऽनुनासिका न ह्यौ' इस उक्ति के द्वारा नादप्रयत्न व ले ने व हकार की तथा श्वाम प्रयत्न वाले सभी वर्णों की अनुनासिकता का निषेध किया है। इस प्रकार द्विविध बाह्य प्रयत्नो से ३४ वर्ण निष्पन्न होते हैं। उनमें अदि के ५ स्वर (अ, इ, ऋ, लृ, उ,) तथा २९ व्यञ्जन (अ, य, र, ल, व, श्र, य, र, ल, व, ग, ज, ड, द, ब, ड, अ, ए, न, म, क, च, ट, त, प, श, ष, स, ह) सम्मिलित हैं।

मध्यक्षरो के स्थान व प्रयत्न

योगिक वर्णों में दो सवर्णों (समान स्थान व समान आभ्यन्तर प्रयत्न वाली) के योग में स्थानभेद नहीं होता है। अतः लृस्व, दीर्घ व प्लुत वर्णों का स्थान समान ही होता है। अतः अ, आ, अर्द्ध ये तीन कण्ठ्य हैं। इ, ई, इर्द्ध ये तीनों तालव्य -। इसी प्रकार ऋकारादि वर्णों में भी समझना चाहिए। विभिन्न स्थान वाले वर्णों की सहिता में मध्यक्षर द्विस्थान वाले होते हैं। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

‘ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठ्यौ स्मृताः । इति ।’

हकार का पूर्व तथा पर दोनो प्रकार से सयोग होता है। वर्णों के पञ्चम वर्णों एवं अन्तस्य वर्णों के परे होने पर हकार का पूर्व सयोग होता है और वहाँ हकार उर स्थानीय होता है। जैसे ह्र, ह्र, ह्र, ह्र, ह्र, ह्र, ह्र में। क और ख के होने पर हकार का जिह्वामूल स्थान तथा प और फ के परे होने पर उपध्मा स्थान होता है, ऐसा शाकटायन मानते हैं। क, च, ट, त, प, ग, ज, ड, द, ब, ड, अ, ए, न, म तथा र, ल, ड, ल से परे जब हकार होता है तब उमका परमयोग होता है और उम समय हकार आश्रयस्थानभागी होता है। इससे क, च, ट, त, प से हकार का सयोग होने पर ख, छ, ठ, थ,

फ एव ग, ज, ड, द, व से पश्चात् हकार का मयोग होने पर घ, ङ, ढ, ध, भ वर्ण निम्न होते हैं। इसीलिये पाणिनि ने कहा है —

१ अ और ह कण्ठस्थानीय है। इकार, चवग, य और ञ तालव्य है। उ और पवग ओष्ठ्य है। ऋ, टवग, र, प मूधन्य हैं। लृ, तवर्ग, ल, न दन्त्य है। कवर्ग जिह्वामूलस्थानीय है। ङ, एण न, म तथा र और ल लोकभाषा म सोष्म उपलब्ध होते हैं। जैसे साइहा, कान्हा, माम्हर, गेल्हा आदि शब्दों में। छन्दोभाषा में सोष्म इकारादि का प्रयोग नहीं मिनता। अतः कात्यायन ने उन वर्णों को सोष्म वर्णों में गणना न कर दश वर्णों की ही सोष्म बतलाया है। अर्थात् १ वर्णों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण सोष्म है। हकार यद्यपि अर्ध-स्पृष्ट है तथापि जिन ककारादि से इसका सयोग होता है वे पूर्ण स्पृष्ट हैं। अतः द्वितीय तथा चतुर्थ सोष्म वर्णों का भी पूर्ण स्पृष्ट ही माना जाता है। इसीलिये पाणिनि ने ३ स्वरो को अस्पृष्ट, य, र, ल, व को ईपस्पृष्ट, ष, प, स, ह को अर्ध-स्पृष्ट तथा शेष वर्णों को पूर्ण स्पृष्ट बतलाया है। इन सभी वर्णों के समान रूप से स्पृष्ट प्रयत्न वाले होने पर भी इनके बाह्य प्रयत्नों में भेद है। वर्णों के प्रथम-क, च, ट, त, प तथा तृतीय ग, ज, ड, द, व अल्पप्राण हैं एव वर्णों के द्वितीय-ख, छ, ठ, थ, फ एव चतुर्थ-घ, ङ, ढ, ध, भ महाप्राण हैं।^५

भी मधुवदनविद्याशास्त्रप्रणीत पद्यास्वस्ति ग्रन्थ में गुणपरिष्कार नामक तृतीय प्रपाठ की द्वितीयाध्याया समाप्त ॥ ३ ॥

- १ कण्ठ्यावहाविच्युपशास्तालव्या शोष्ठजायुषु ।
स्युर्मूधया ऋट्टरया दन्त्या सतुत्तसा स्मृता ॥
जिह्वामूले तु कु प्रोषतो दत्योष्ठो य स्मृतो बुधे । पा० शि० ।
- २ 'द्वितीयचतुर्थ्या सोष्माण । इति ।
- ३ अर्धोऽस्पृष्टा यणस्त्वोपनेमस्पृष्टा शल स्मृता ।
नेवा स्पृष्टा हल प्रोषता निबोधानुप्रदानत ॥ पा० नि० ॥
- ४ ईवप्रादा यण जशो नादिनो हम्भ्य स्मृता ।
ईवच्छयासाऽश्वरोविद्यात् न्यासिनस्तु लफादय ॥ पा नि

अक्षरनिर्देशात्मक चतुर्थ प्रपाठ

मन्त्र को जानने की इच्छा वाग्ना पुरुष प्रत्येक पद में स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा उनके प्रयोग तथा अर्थ को जाने । (१) वेद के अध्ययन से, उमके दान में, उमके श्रवण से तथा वेद के वर्णों अक्षरा विभक्तियों व पदों के ज्ञान से धर्म होता है । (२) इम कात्यायनोक्ति में यह स्पष्ट मिद्ध है कि वर्णज्ञानपूर्वक तथा अक्षरज्ञानपूर्वक वेदार्थज्ञान ग्राह्यणों का निष्कारण वर्त्तव्य है । वहाँ वर्णज्ञान का निरूपण हो चुका । अक्षरज्ञानसिद्धि के लिए इम प्रकरण का वा आरम्भ किया जाता है ।

ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण होता है । त्रिभेदभिन्न यह ब्रह्म विश्व बनता है । ब्रह्म के तीन भेद पर, अक्षर व क्षर हैं । दिग् देव, काल में अनवच्छिन्न होता हुआ भी जो क्षर तथा अक्षर का आलम्बन (आधार) होने से मन की तरह परिच्छिन्न होता है वही अव्यय नामक परब्रह्म है । वही चित्ति के द्वारा मन, प्राण व वाग् बनता है । इम मनोमय अव्यय में अवलम्बित प्राणमय तथा क्षरो का सचालक कूटस्थ तत्व अक्षर कहलाता है । अक्षर में अवलम्बित वाङ्मय यह मन्त्र भूतमूह क्षर^२ कहलाता है । इन अव्यय (पर) अक्षर व क्षर से भिन्न कोई कोई तत्व नमार में नहीं ह । अयय, अक्षर व क्षर तीनों पुरुष मिलकर एक पुरुष है । जिमें वेद म षोडशी कहा है । उस पुरुष को विद्युद्ध आत्मा भी कह सकते हैं, विग्रहवान् आत्मा भी, तथा अनेक विग्रहवानो (शरीरधारियों) से बना हुआ स्वन्ध (भूतग्राम) भी । जो कुछ भूत व भव्य जगत् में दृष्टिगोचर होता है, वह पुरुष^३ ही है । वह पुरुष मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय है ।

वेद में कहा है कि अथो वागेवेद सर्वम्^१ । अर्थात् मन्त्र कुछ वाग् ही है । वाग् आकाश को कटते हैं । वही वायु है, तेज है, जल है व पृथिवी है । यह पृथिवी जल पर प्रतिष्ठित है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश त्प वाक्त्व म । इसलिये ये सब विकार (वाय) वाक्त्व से भिन्न नहीं हैं ।

१ कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।

२ क्षर सर्वाणि सूतानि ।

३ पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यच्च मात्यम् ।

इसलिये जगत् मे जो कोई भी भूतसमूह दिखाई देता है, वह सब वाक् ही है। इसलिये वेद मे कहा ह—‘वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता’ इति ।

वे सब क्षर, अक्षर के अधीन है, अत स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इसलिये इनकी सत्ता का आवायक कोई स्वतन्त्र तत्व मानना होगा। वही तत्व अक्षर है। उसे ही प्राण कहते है। उस प्राण रूप अक्षर मे अनन्त गुण उत्पन्न होते है। इसलिये गुणभेद से प्राणो के अनन्तविध होने पर भी पाँच प्रकार के स्थानो मे रहने के कारण इस प्राण के पाँच भेद माने जाते है। ये ही पाँच प्रकार के प्राण पञ्च अक्षर कहलाते है। ये पञ्च अक्षर ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्ही पाँच अक्षरो से वाङ्मय तथा सभी क्षरात्मक भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। इन्ही प्राणो के आधार से ये भूत प्रतिष्ठित रहते हैं तथा अत मे उही प्राणो मे विलीन हो जाते है। यह परब्रह्मविद्या है अर्थात् यह स्थिति परब्रह्म मे है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्वो मे जिनको कि अव्यय, अक्षर, क्षर भी कहते हैं। यह वाक्त्व भूतभाव, शब्दभाव व अथभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है। वाग् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से उत्पन्न भूतसमूह ही भूतमय प्रपञ्च है। यह वाक् का एक प्रकार का विनियोग है। ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्’ इस श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतो म अनुप्रविष्ट वाग्रूप आकाश ही आघात से कम्पित होता हुआ, वायु से पृथक् होकर वायु के आधार से चारो दिशाओ मे गोल (वृत्ताकार) बीचीतरंग को उत्पन्न करता ह। वह नाद रूप से कम्पमान वागाकाश चलता हुआ श्रोता के श्रोत्रप्रदेश मे पहुँचता है और श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द कहलाता है। यही शब्द शब्दमय प्रपञ्च तथा अथमय प्रपञ्च रूप से दो प्रकार से विनियुक्त होता है। यही बात वाक्यपदीय मे भर्तृहृग् ने कही है—

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽथभावेन प्रक्रिया जगतो यत् ॥ इति ।

यह शब्दमय तथा अथमय दोनों प्रकार का प्रपञ्च वाङ्मय प्रपञ्च ही । यही वाक्त्व का शब्दरूप तथा अथरूप इन दो प्रकारो से विनियोग है। इस शब्दमय तथा अथमयरूप वाङ्मय प्रपञ्च में वे ही प्रकार है जिन प्रकारों का

भूतमय प्रपच मे चरणेन किया है। वह वाङ्मय प्रपच भूतमय प्रपच से छोटा है क्योकि यह भूतमय प्रपच का एकदेश है। अत परब्रह्म विद्या को जानने की इच्छा वाला पहिले शब्दमय ब्रह्मविद्या का परिशीलन करे। अल्पश्रम मे ज्ञात यह शब्दविद्या महायानसाध्य परविद्या के ज्ञान मे उपयोगी है इसीलिये मुण्डक श्रुति ने कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत्।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माविगच्छति ॥

इस श्रुति मे ब्रह्म शब्द का अर्थ विज्ञान है। वह विज्ञान शब्दविज्ञान तथा परविज्ञान भेद मे दो प्रकार का है। विज्ञान तथा अभिनिवेश के द्वारा ज्ञानप्राप्ति भगवान् गौतम मानते हैं। शब्दश्रवणाधीन अर्थज्ञान विज्ञान है। इसे ही शब्द ब्रह्म कहते हैं। परोक्षा द्वारा साक्षात्काराधीन अर्थज्ञान को परब्रह्म कहते हैं। पूर्व परोक्षको, पदार्थतत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुषो के अधिगताथविषयक उपदेशरूप वाक्यार्थश्रवण में निष्णात पुरुष यदि परोक्षा के लिये प्रवृत्त होता है, तो उनका अभिनिवेशज्ञान समीचीन होता है। यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ है। अन्य प्रकार से भी इस मन्त्र की व्याख्या है—शब्द दो प्रकार मे अर्थज्ञान कराता है अविधानरूप से तथा प्रतीयरूप से। ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भी ब्रह्म है जसा कि श्रुति बतला रही है—'एतद्ब्रह्म मत्प्रकाम पर चापर च ब्रह्म यदोङ्कार।

वहाँ अभिधानपक्ष के अनुसार 'द्वे ब्रह्मणी' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या ऊपर कर दी गई है। प्रतीयरूप मे इस मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित है—

परा तथा अपरा ये दो विद्या है। परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपरा विद्या है। दोनों विद्याओ मे अत्यधिक साम्य है। अत शब्दसृष्टि-ज्ञान मे उसकी समानता के कारण अर्थसृष्टिज्ञान सिद्ध हो जाता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं। जिस प्रकार पर विद्या मे अव्यय, अक्षर, क्षर भेद मे तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है। उसी प्रकार अपर विद्या मे भी स्फोट, अक्षर, वर्ण भेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है। अपरविद्या मे वर्णों, अक्षरों, पदों, ममस्त-पदों, वाक्यों व महावाक्यों मे एकत्वबुद्धि का कारण स्फोटरूप अत्यय है। जिस प्रकार परविद्या मे क्षर, अक्षर आदि का आलम्बन अव्यय पुरुष है, उसी

इसलिये जगत् में जो कोई भी भूतमूढ सिगार्ड देता है, वह सब बक ही है। इसलिये वेद में कहा है—‘यातीमा त्रिधा भुवनाऽपिना’ इति।

वे मय क्षर, अक्षर के अधीन हैं, अन ग्यात्र नहीं रह सकते। इसलिये इनको सत्ता का आधायक कोई स्वतन्त्र तत्त्व मानना होगा। यही तत्र अक्षर है। उसे ही प्राण कहते हैं। उन प्राण रूप अक्षर में अन्न गुण उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुणभेद में प्राणों के अन्न-विष होने पर भी पाँच प्रकार के स्थानों में रहने के कारण इन प्राण के पाँच भेद माने जाते हैं। ये ही पाँच प्रकार के प्राण पञ्च अक्षर कहलाते हैं। ये पञ्च अक्षर ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्हीं पाँच अक्षरों में वाङ्मय तथा सभी क्षरात्मक भूत-समूह उत्पन्न होते हैं। इन्हीं प्राणों के आधार से ये भूत प्रतिष्ठित रहते हैं तथा अन्त में उन्हीं प्राणों में विलीन हो जाते हैं। यह परब्रह्मविद्या है अर्थात् यह स्थिति परब्रह्म में है।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्वों में जिनको वि अर्थव्यय, अक्षर, क्षर भी कहते हैं। यह वाक्त्व भूतभाव, शब्दभाव व अर्थभाव रूप से तीन प्रकार से विनियुक्त होता है। वाक् रूप आकाश से वायु आदि क्रम से उत्पन्न भूतसमूह ही भूतमय प्रपञ्च है। यह वाक् का एव प्रकार का विनियोग है। ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्’ इस श्रुति के अनुसार वायु आदि भूतों में अनुप्रविष्ट वाक् रूप आकाश ही आधार से कम्पित होता हुआ, वायु से पृथक् होकर वायु के आधार से चारों दिशाओं में गोल (वृत्ताकार) वीचीतरंग की उत्पन्न करता है। वह नाद रूप से कम्पमान वागाकाश चलता हुआ श्रोता के श्रोत्रप्रदेश में पहुँचता है और श्रोत्रेन्द्रिय के प्रज्ञाभाग से मिलकर शब्द कहलाता है। यही शब्द शब्दमय प्रपञ्च तथा अर्थमय प्रपञ्च रूप से दो प्रकार से विनियुक्त होता है। यही बात वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कही है—

अनादिनिघन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥ इति।

यह शब्दमय तथा अर्थमय दोनों प्रकार का प्रपञ्च वाङ्मय प्रपञ्च ही। यही वाक्त्व का शब्दरूप तथा अर्थरूप इन दो प्रकारों से विनियोग है। इस शब्दमय तथा अर्थमयरूप वाङ्मय प्रपञ्च में वे ही प्रकार हैं जिन प्रकारों का

भूतमय प्रपच मे वर्णन किया है । वह वाङ्मय प्रपच भूतमय प्रपच से छोटा है क्योंकि यह भूतमय प्रपच का एकदेश है । अतः परब्रह्म विद्या को जानने की इच्छा वाला पहिले शब्दमय ब्रह्मविद्या का परिशीलन करे । अल्पश्रम से ज्ञात यह शब्दविद्या महायाससाध्य परविद्या के ज्ञान में उपयोगी है इसीलिये मुण्डक श्रुति ने कहा है—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म पर च यत् ।

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

इस श्रुति में ब्रह्म शब्द का अर्थ विज्ञान है । वह विज्ञान शाब्दविज्ञान तथा परविज्ञान भेद से दो प्रकार का है । विज्ञान तथा अभिनिवेश के द्वारा ज्ञानप्राप्ति भगवान् गौतम मानते हैं । शब्दश्रवणाधीन अथज्ञान विज्ञान है । इसे ही शाब्द ब्रह्म कहते हैं । परीक्षा द्वारा साक्षात्काराधीन अर्थज्ञान को परब्रह्म कहते हैं । पूर्व परीक्षको, पदायतत्य का साक्षात्कार करने वाले पुरुषों के अधिगताथविषयक उपदेशरूप वाक्यार्थश्रवण में निष्णात पुरुष यदि परीक्षा के लिये प्रवृत्त होता है, तो उनका अभिनिवेशज्ञान समीचीन होता है । यह इस मंत्र का प्रथम अर्थ है । अन्य प्रकार से भी इस मंत्र की व्याख्या है—शब्द दो प्रकार में अथज्ञान कराता है अभिज्ञानरूप से तथा प्रतीकरूप से । ओम् शब्द का वाच्य ब्रह्म है तथा ओम् शब्द भी ब्रह्म है जसा कि श्रुति बतला रही है—‘एतद्वै सत्यकाम पर चापर च ब्रह्म यदोङ्कार ।

वहाँ अभिधानपक्ष के अनुसार ‘द्वे ब्रह्मणी’ इत्यादि मन्त्र की व्याख्या ऊपर कर दी गई है । प्रतीक पक्ष में इस मंत्र का अर्थ निम्नलिखित है —

परा तथा अपरा ये दो विद्या हैं । परब्रह्म ही परा विद्या तथा शब्दब्रह्म ही अपरा विद्या है । दोनों विद्याओं में अत्यधिक साम्य है । अतः शब्दसृष्टि-ज्ञान से उसकी ममानता के कारण अर्थसृष्टिज्ञान सिद्ध हो जाता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं । जिस प्रकार पर विद्या में अव्यय, अक्षर, क्षर भेद से तीन प्रकार का प्राणब्रह्म है । उसी प्रकार अपर विद्या में भी स्फोट, अक्षर, वर्ण भेद से तीन प्रकार का वाग्ब्रह्म है । अपरविद्या में वर्णों, अक्षरों, पदों, समस्त-पदों, वाक्यों व महावाक्यों में एकत्वबुद्धि का कारणा स्फोटरूप अव्यय है । जिस प्रकार परविद्या में क्षर, अक्षर आदि का आलम्बन अव्यय पुरुष है, उसी

स्फोटरूप अक्षय मे नित्य सम्प्रदुध पांच स्वररत्मक वण अ, इ, उ, आल, अणर पहलाते हैं। इन्ही पांच अक्षरो से धारात्मक सारे व्यजनप्रण उत्पन्न हाने हैं। जिस प्रकार अक्षरो से उपगृहीत धर, अक्षरो मे आलम्बन अथय म प्रतिष्ठित रहते हैं, उमो प्रकार स्वररूप अक्षरो मे उपगृहीत व्यजात्मक धर अक्षर सम्बन् स्फोटरूप अक्षय मे प्रतिष्ठित रहते हैं। पन्तन्ध धाररत्मक धाजन अक्षररत्मक स्वर के आश्रित रहते हैं और अक्षररत्मक स्वररसमृत् अक्षयररत्मक स्फोट मे सम्प्रदुध होता हुमा अणना स्वररूप धारण करता है। ये व्यजन, स्वर और स्फोट तीनों एकोभूत एक वाक्त्व है।

वाक्य का स्वरूप पदो से, पदो का अक्षरो से नया अक्षरो का वर्णो मे निष्पन्न होता है। अत वाक्य, पद व अक्षर सभी का स्वरूप वर्णो मे ही बनता है। अक्षर वर्णो का आत्मा है, अत वर्णो से भिन्न है। अर्थात् वर्ण तथा अक्षर एक नही, भिन्न हैं। इगोलिये कात्यायन ने 'स्वरो वर्णोश्चर माना' इस पदुय मे वर्ण तथा अक्षर दोनों का प्रयाग कर वर्ण और अक्षर का भेद बतलाया है। जो वर्णरसामान्या अक्षररसामान्या ह, इम रूप से वर्ण और अक्षर म कही कही अभेदव्यवहार भी किया गया है वह भ्रान्तिमूलक ह। क्योंकि आठ प्रकार से वर्णो एव अक्षरो म भेद सिद्ध है। जैसे—

(१) वर्ण क्षरपुरुष है और अक्षर अक्षर पुरुष है, इस प्रकार दोनों मे पुरुषभेद है।

(२) वर्ण ६४ है और अक्षर लघु, गुरु भेद से दो प्रकार का है, यह सख्याभेद ह।

(३) वर्ण एकविन्दात्मक है और अक्षर नवविन्दात्मक है, यह यानिभेद है।

(४) वर्ण निर्व्यापार है और पञ्चम विन्दुस्थ अक्षर यदि निर्व्यापार है अथवा उसम पृष्ठत व्यापार है, तो लघु होता ह और पुरतो व्यापार होता है, तो गुरु होता है। जैसे— अ या प्र लघु है किन्तु आ या अत् गुरु है, यह व्यापारभेद है।

(५) वर्ण अज्ञ है और अक्षर अन्नाद है, यह वीयभेद है।

(६) वर्ण अक्षरप्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठित है और स्वत अप्रतिष्ठित है, किन्तु अक्षर स्वत प्रतिष्ठित है, यह प्रतिष्ठाभेद है।

(७) वर्ण अक्षर के अग हैं और अक्षर वर्णों का अगो है यह अगागिभेद है ।

(८) 'ओम्' मे वर्ण तीन हैं—अ, उ, म्, किन्तु ओम् 'अक्षर एक है, यह प्रतिगति (ज्ञान) भेद है । इस प्रकार उपर्युक्त मन्दर्भ से दो बातें सिद्ध होती हैं— (१) वर्णों से अक्षर भिन्न हैं । (२) तथा अर्थ और शब्द दोनों ही तीन प्रकार के हैं, इस समानता के कारण परब्रह्मविद्या व शब्दब्रह्मविद्या में अत्यन्त सादृश्य है ।

अक्षरों की गुरुत्व तथा गुरुत्व की उत्पत्ति के लिए वर्णों के अगाङ्गिभाव की व्याख्या की जा रही है । 'वृहत्या (वाच) पति वृहस्पति' इत्यादि निर्वचन से वाक् का वृहतीत्य सिद्ध होता है । यह वृहती वाक् ऐन्द्र (इन्द्र सम्बन्धी) छन्द है । ऐन्द्रेणारण्यश्रुति मे वृहतोसहस्र को इन्द्र का प्रिय धाम बतलाया है । इसलिये ऐन्द्रो वाक् वृहती कहलाता है । वृहती यह नो भक्ति (भाग) वाले छन्द को मज्ञा ह । ऐन्द्रो वाक् को वृहती बतलाने हुए आचार्यों का ऐन्द्रो वाक् नवभक्तिक (नो भाग वाली) ह, यह तात्पर्य है । अन यह सिद्ध है कि ऐन्द्रो वाक् का नो त्रिन्दुएँ व्याप्तिम्यान है । नो त्रिन्दु तक यह अक्षरस्फोट है । अर्थात् नो त्रिन्दुओ तक अक्षरस्फोट की व्याप्ति ह ।

उच्चार्यमाण व्यजन जिनने प्रदेश को व्यान करते हैं वह अर्धमात्राकाल है । उमी अद्यमानाकाल का उपलक्षण (बोधक) एक बिन्दु है । यद्यपि स्वर को अक्षर कहते है और स्वर दो त्रिन्दुओ को विषय बनाता है न कि नो त्रिन्दुओ को । क्योंकि स्वर एकमात्रिक होता है और एक मात्रा दो अर्धमात्रिक त्रिन्दुओ मे बनती है तथापि नव त्रिन्दु तक अक्षर की व्याप्ति होती है, यह नवविन्दुक का तात्पर्य ह न कि नो त्रिन्दुओ मे स्वररूप अक्षर का स्वरूप बनता है । अर्थात् नवविद्वात्मक प्रदेश तक के व्यजनो को स्वर रूप अक्षर आत्ममात् करने में समर्थ है । व्यजनमहित स्वर भी अक्षर कहलाता है और मव्यजन स्वर का नवविन्दुक स्फोट आयतन होना है । यही स्फोट अव्यय है ।

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म भी अक्षर उक्त, अर्क, अशक्ति भेद मे तीन भागो से युक्त है । उन तीन भागो मे त्रिन्दुद्वयात्मक स्वर

'वाग्' को एक अक्षर तथा अक्षर को व्यक्षर (तीन अक्षरों का समुदाय) बतला रही है। क्योंकि वाग्' में व्, आ, ग् इन तीन वर्णों के होने पर भी आद्यन्त व्यंजनो से विशिष्ट अकारस्वर एक अक्षर ही है तथा 'अक्षर' शब्द में 'अ' यह एक अक्षर व्यंजन से असंपृक्त होने के कारण 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर है। तथा 'क्ष' व 'र' ये दो व्यंजनसंपृक्त स्वर होने से 'सहाद्यैर्व्यंजनैरुत्तरैश्चावमितै' इस वचन के अनुसार अक्षर है, मिलकर तीन अक्षर है, अत 'अक्षर' शब्द को तीन अक्षरों का समुदाय बतलाया गया है। कितने व्यंजनों से युक्त स्वर एक अक्षर कहला सकता है, इस जिज्ञासा में यही उत्तर है कि आदि में (पूर्व में) चार व्यंजनों से तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से विशिष्ट स्वर एक अक्षर कहला सकता है। अर्थात् एक स्वर आदि में चार व्यंजनों को तथा उत्तर में तीन व्यंजनों को व्याप्त कर सकता है। यही उसका क्रान्तिमण्डलरूप महिमास्थान है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार एक स्वर-रूप आत्मा अपने अर्करूप प्राणों से आदि में चार तथा अन्त में तीन व्यंजनों को अक्षिति (अन्न) रूप में आवाहन कर आत्मसात् करके अपने अग्न बना सकता है। अत इतने व्यंजन उसके अग्न है तथा विन्दुद्वयात्मक स्वर उन व्यंजनरूप अग्नो का आत्मा है। इसलिये जैसे पृथिवी सूर्य का अग्न है उसी प्रकार पार्थिव वागुरूप व्यंजन ऐन्द्रवागरूप स्वर के अग्न है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जहाँ ६ विन्दात्मक प्रदेश में दूसरे स्वर का अभाव है, वहाँ तो 'सहाद्यै' इत्यादि कार्त्तयान-वचन के अनुसार पूर्व में चार तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर है, यह ज्ञान निर्विवाद तथा असन्दिग्धरूप से हो जाता है किन्तु जहाँ नवविन्दात्मक परिधि में दूसरा स्वर भी आ गया है वहाँ उसके पास के व्यंजनों को कौनसे स्वर का अग्न माना जाय अर्थात् स्वरद्वयमध्यवर्ती व्यंजनों को पूर्वस्वर का अग्न माना जाय या परस्वर का। जैसे—'अपक्वस्नानम्' इस पञ्चाक्षर पद में शुद्ध अकार, पकार-युक्त अकार, ककार व वकार से युक्त अकार, सकार, तकार तथा यकार से युक्त आकार एवं पूर्व में नकार तथा उत्तर में मकार से युक्त अकार इस प्रकार पाँच अक्षर हैं। वहाँ पर पकार, ककार, सकार, तकार एवं नकार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अग्न क्यों नहीं हैं, उत्तरवर्ती स्वर के ही क्यों ?

इसका समाधान यही है कि स्वर में पृष्ठत (आदि में) तथा पुरत (उत्तर में) बल में न्यूनाधिकतारतम्य होता है। दो स्वरों के होने पर पूर्ववर्ती

दाद्वद्रह्म या उक्थ या आत्मा है। मात विन्दुएँ दृग्वा अक्षरस्थान है। उक्थरूप आत्मा से उत्पन्न प्राण अक्षर कहलाते हैं। वे अक्षर कान्तिमण्डल रूप अपनी महिमा म अगिति (अक्षर) को प्राप्त करने के लिए आक्रमण (गमन) करते हुए धररूप व्यजन को आत्मगात् कर लेते हैं, उमे अपने स्वरूप म समाविष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार यह उक्थ रूप आत्मा अपने कान्तिमण्डलरूप महिमा स्थान में अक्षर द्वारा गृहीत व्यजनों को अपने स्वरूप में समाविष्ट कर लेता है। अतः केवल स्वर के अक्षर होने पर भी ६ बिन्दु तक वर्तमान धररूप व्यजन स्वररूप अक्षर की मत्ता से ही सत्तावान् होते हैं। अतः इन व्यजनों से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'अ' यह एक अक्षर है। इसी प्रकार य, स्य, श्य, श्य भी एक एक अक्षर ही हैं। वे अक्षर उपमगं (पूर्व में विद्यमान) व्यजन के (एक-दो-तीन-चार-भेद में) न्यूनाधिक होने पर भी आकार म समान स्थान को ही रोक्ते हैं। इसी प्रकार अ, अर्, अक्, अक्त् ये चारो अक्षर भी स्वर से उत्तरवर्ती व्यजनों के न्यूनाधिक होने पर भी छद् (आकार) में समान स्थान को ही रोक्ते हैं। अतः ये एक अक्षर कहनाते हैं। इसीलिए जहाँ व्यजन नहीं है, वहाँ शुद्ध स्वर ही अक्षर है। और स्वर के पूर्व या पश्चात् व्यजनों के होने पर व्यजनविशिष्ट स्वर ही अक्षर कहलाता है। इसीलिये कात्यायन ने कहा है। 'स्वरोऽक्षर सहाद्यैव्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितै'। इति।

स्वर दो प्रकार का होता है—अपृक्त तथा व्यजनसपृक्त। जैसे—'अहम्' में प्रथम अकार व्यजन से असपृक्त है। उसको हम वर्ण व अक्षर दोनो कह सकते हैं। क्योंकि अकार वर्ण भी है और 'स्वरोऽक्षरम्' इस सिद्धान्त से अकार स्वरवर्ण होने से अक्षर भी है। हकारोत्तरवर्ती अकार पूर्व में हकार व्यजन से तथा पश्चात् (उत्तर में) अकार व्यजन से सम्पृक्त है। अतः यहाँ व्यजनविशिष्ट स्वर है, न कि केवल, स्वर। यहाँ व्यजनविशिष्ट स्वर का व्यजनोपहित दृष्टि से विचार करें तो अकार भी वर्ण ही है अक्षर नहीं, क्योंकि उपाधि का उपहित में अन्वय नहीं होता। अतः उस दृष्टि से विचार करने पर व्यजनों का अकार म अवयव न होने से अकार वर्ण ही है। और यदि विशिष्ट मान कर विशिष्ट दृष्टि से विचार किया जाय तो विशेषणो का विशिष्ट में अवयव होने से अकार, पूर्व में हकार तथा उत्तर में मकार व्यजन से युक्त होने के कारण 'सहाद्यैव्यञ्जनैरुत्तरैश्चावसितै' इस कात्यायनवचन के अनुसार अक्षर है। इसीलिये 'वागित्येकमक्षरम्', अक्षरमिति व्यक्षरम्' यह ऐतरेयारण्यक श्रुति

‘वाग्’ को एक अक्षर तथा अक्षर को त्र्यक्षर (तीन अक्षरों का समुदाय) बतला रही है। क्योंकि वाग्’ में व्, आ, ग् इन तीन वर्णों के होने पर भी आद्यन्त व्यंजनो से विशिष्ट अकारस्वर एक अक्षर ही है तथा ‘अक्षर’ शब्द में ‘अ’ यह एक अक्षर व्यंजन से असंपृक्त होने के कारण ‘स्वरोऽक्षरम्’ इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षर है। तथा ‘क्ष’ व ‘र’ ये दो व्यंजनसंपृक्त स्वर होने से ‘सहाद्यैर्व्यंजनैरुत्तरैश्चावसितै’ इस वचन के अनुसार अक्षर है, मिलकर तीन अक्षर हैं, अतः ‘अक्षर’ शब्द को तीन अक्षरों का समुदाय बतलाया गया है। कितने व्यंजनों से युक्त स्वर एक अक्षर कहला सकता है, इस जिज्ञासा में यही उत्तर है कि आदि में (पूर्व में) चार व्यंजनों से तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से विशिष्ट स्वर एक अक्षर कहला सकता है। अर्थात् एक स्वर आदि में चार व्यंजनों को तथा उत्तर में तीन व्यंजनों को व्याप्त कर सकता है। यही उसका क्रान्तिमण्डलरूप महिमास्थान है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार एक स्वर-रूप आत्मा अपने अक्षररूप प्राणों से आदि में चार तथा अन्त में तीन व्यंजनों को अशिति (अन्न) रूप में आधान कर आत्मसात् करके अपने अंग बना सकता है। अतः इतने व्यंजन उसके अंग हैं तथा बिन्दुद्वयात्मक स्वर उन व्यंजनरूप अंगों का आत्मा है। इसलिये जैसे पृथिवी सूर्य का अंग है उसी प्रकार पार्थिव वागुरूप व्यंजन ऐन्द्रवागरूप स्वर के अंग है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जहाँ ६ बिन्दुात्मक प्रदेश में हमारे स्वर का अभाव है, वहाँ तो ‘सहाद्यै’ इत्यादि कात्यायन-वचन के अनुसार पूर्व में चार तथा उत्तर में तीन व्यंजनों से युक्त स्वर अक्षर है, यह ज्ञान निर्विवाद तथा असन्दिग्धरूप से हो जाता है किन्तु जहाँ नवबिन्दुात्मक परिधि में दूसरा स्वर भी आ गया है वहाँ उसके पास के व्यंजनों को कौनसे स्वर का अंग माना जाय अर्थात् स्वरद्वयमध्यवर्ती व्यंजनों को पूर्वस्वर का अंग माना जाय या परस्वर का। जैसे—‘अपक्वस्नानम्’ इस पञ्चाक्षर पद में शुद्ध अकार, पकार-युक्त अकार, ककार व वकार से युक्त अकार, सकार, तकार तथा यकार से युक्त आकार एवं पूर्व में नकार तथा उत्तर में मकार से युक्त अकार इस प्रकार पाँच अक्षर हैं। वहाँ पर पकार, ककार, सकार, तकार एवं नकार अपने पूर्ववर्ती स्वर के अंग क्यों नहीं हैं, उत्तरवर्ती स्वर के ही क्यों ?

इसका समाधान यही है कि स्वर में पृष्ठत (आदि में) तथा पुरत (उत्तर में) बल में न्यूनाधिकतारतम्य होता है। दो स्वरों के होने पर पूर्ववर्ती

तस्माच्चोत्तर स्पर्शे । अवसित चेति' । अर्थात् सयोग का आदि व्यजन पूर्व स्वर का अङ्ग होता है । इसी प्रकार यम तथा क्रमज व्यजन भी पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं ।

तर्क, गुल्म, हृद्यम्, रक्मम्, पत्नी सत्यम्, इत्यादि उदाहरणों में दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यजनो में प्रथम व्यजन पूर्व स्वर का तथा दूसरा व्यजन पर स्वर का अंग है ।

अन्तस्य (य, र, ल, व) तथा ञ, प, स, ह से भिन्न सयुक्ता तथा अवसित (पदान्त) व्यजनो का उच्चारण दो प्रकार से होता है—सहजतया तथा बलप्रयोगपूर्वक । जिस रूप से वर्णों का प्रारंभ किया जाता है उसी रूप से समाप्ति भी करनी चाहिए, इस नियम से उच्चारण करने वाले पुरुषों का पद के मध्य में विशेष बल का प्रयोग नहीं होता, इस प्रकार का उच्चारण अञ्जसा उच्चारण कहलाता है । जैसे 'सत्य' शब्द में स्पर्शवर्ण तकार का, तर्क, गुल्म आदि उदाहरणों में अन्तम्य वर्ण रेफ व लकार की तरह, मृदुग्रह है । ऐसे स्थलों में तकार-वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है किन्तु विक्रम्य उच्चारण करने में तकार स्पर्श में बलविशेष का उदय होने से पूर्व स्वर की विक्रान्ति होती है । इस विक्रम के कारण 'सत्य' शब्द में स्पर्श वर्ण के उच्चारण के बाद विच्छेद होकर पुन उत्तर वर्ण के उच्चारण के लिए प्रयत्नलाभ होता है । ऐसी स्थिति में 'सयोगविभागशब्देभ्यः शब्द' इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार सयोगज स्पर्श के बाद विभागज स्पर्श की और उत्पत्ति होती है । इस प्रकार तकार वर्ण का दो बार उच्चारण होता है । इन दोनों वर्णों में सयोगादि वर्ण तकार के द्वित्व से उत्पन्न क्रमज पूर्व तकार वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है तथा द्वितीय तकार वर्ण जो कि विभागज शब्द है, परस्वर का अङ्ग होता है । 'रुक्म' शब्द में क तथा तत्समान यमवर्ण द्वितीय ककार पूर्व स्वर के अंग हैं तथा मकार परस्वर का अंग है ।

रेफ और हकार के सयोगादि वर्ण होने पर जहाँ उनसे परे विद्यमान स्पर्श वर्णों को द्वित्व होता है, वहाँ 'पाशवर्षम्' आदि शब्दों में रेफ तथा क्रमज पूर्व गकार पूर्व स्वर के अंग हैं एव ञ, व, य—ये परस्वर के अंग होते हैं । 'वाप्ययि' शब्द में रेफ से परे प्रथम पकार पूर्व स्वर का तथा प और य पर

तथा पर्यायी स्वरों में बाध्यबाधभाव होने में एक स्वर में बल का नाश होने में उस स्वर (बाधित स्वर) का व्यजनविधेय म मन्त्रमण रक जाता है। जैसे—'गुन' शब्द में मकार व्यंजन परस्वर का अङ्ग है अतः पूर्व स्वर का अङ्ग नहीं होता। यद्यपि यहाँ पर अर्धित बल धाने, परस्वर के बल से अन्य बल धाने पूर्व स्वर के बल का बाध हो गया है। अतः का यह तारतम्य दो स्वरों का सङ्गणन होने पर ही होता है। नपाकि नवविन्दात्मक प्रायनन में स्वर भी स्थिति पद्यम य पष्ठ विन्दु पर आधारित है। उसमें पूर्व में पञ्चम-विन्दु-सहित पाँच पाद बल है तथा उत्तर में पष्ठ विन्दु-रहित चार पाद बल है। नवविन्दात्मक नौ पादयत्नों से युक्त यह स्वर पूर्व तथा परविन्दुम्य व्यजनों पर व्याप्त होता है। पञ्चम-यष्ठ विन्दात्मक प्रायनन पर आधारित स्वर पूर्व में चार विन्दुओं को तथा उत्तर में तीन विन्दुओं को व्याप्त करता है या उन विन्दुओं पर क्रमण करता है। किन्तु पञ्चम-यष्ठ विन्दुस्थो उक्त्य का यह आक्रमण-बल पूर्व में आदि की चार विन्दुओं पर तथा पश्चात् सप्तमादि तीन विन्दुओं पर पादश एक-एक (पाद) कम होता जाता है।

जैसे—हरि शब्द में रेफ में पूर्व तथा पर दोनों स्वरों को अङ्गना प्राप्त है, किन्तु पूर्व स्वर का उत्तरत बल तीन पाद है और उत्तर स्वर का पृष्ठत बल चार पाद है। अतः उत्तर स्वर का बल अधिक होने से रेफ पूर्व स्वर का अङ्ग न होकर उत्तरस्वर का अङ्ग होता है।

'कात्स्न्यम्' शब्द में तकार म पूर्व स्वर का बल दो पाद है तथा उत्तर पाद का बल एक पाद है। अतः न्यून बल वाले उत्तर स्वर के बल का अधिक बल वाले पूर्व स्वर के बल से बाध हो जाने के कारण तकार पूर्व स्वर का अङ्ग माना जाता है न कि उत्तर स्वर का। यही पर मकार में पूर्व स्वर का बल एक पाद है और उत्तर स्वर का बल दो पाद है। अतः सकार पूर्वस्वर का अङ्ग न होकर परस्वर का अङ्ग होता है। 'ऊर्ध्वस्त्र्यङ्गी' उदाहरण में ककार में पूर्वस्वर का बल दो पाद है और परस्वर का सबंध नहीं, अतः वह पूर्व स्वर का अङ्ग माना जाता है।

इस प्रकार स्वरों में परस्पर बलवैपम्य होने पर जिस व्यजन पर जिस स्वर का बल अधिक होता है, वह व्यजन उसी स्वर का अङ्ग होता है। यही निष्कर्ष भगवान् कात्यायन का है—'सयोगादि पूर्वस्य । ममश्च । क्रमश्च ।

तस्माच्चोत्तर स्पर्शे । अवसित चेति' । अर्थात् सयोग का आदि व्यजन पूर्व स्वर का अङ्ग होता है । इसी प्रकार यम तथा क्रमज व्यजन भी पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं ।

तर्क, गुल्म, हव्यम्, र्वमम्, पत्नी मत्यम्, इत्यादि उदाहरणों में दो स्वरों के मध्यवर्ती व्यजनो में प्रथम व्यजन पूर्व स्वर का तथा दूसरा व्यजन पर स्वर का अंग है ।

अन्तस्य (य, र, ल, व) तथा श, प, स, ह से भिन्न सयुवन तथा अवमित (पदान्त) व्यजनो का उच्चारण दो प्रकार से होता है—सहजतया तथा बलप्रयोगपूर्वक । जिस रूप से वर्णों का प्रारंभ किया जाता है उसी रूप से समाप्ति भी करनी चाहिए, इस नियम से उच्चारण करने वाले पुरुषों का पद के मध्य में विशेष बल का प्रयोग नहीं होता, इस प्रकार का उच्चारण अञ्जसा उच्चारण कहलाता है । जैसे 'सत्य' शब्द में स्पर्शवर्ण तकार का, तर्क, गुल्म आदि उदाहरणों में अन्तस्य वर्ण रेफ व लकार की तरह, मृदुग्रह है । ऐसे स्थलों में तकार-वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है किन्तु विक्रम्य उच्चारण करने में तकार स्पर्श में बलविशेष का उदय होने से पूर्व स्वर की विक्रान्ति होती है । इस विक्रम के कारण 'सत्य' शब्द में स्पर्श वर्ण के उच्चारण के बाद विच्छेद होकर पुन उत्तर वर्ण के उच्चारण के लिए प्रयत्नलाभ होता है । ऐसी स्थिति में 'सयोगविभागशब्देभ्यः शब्द' इस वंशेषिक सूत्र के अनुसार सयोगज स्पर्श के बाद विभागज स्पर्श की और उत्पत्ति होती है । इस प्रकार तकार वर्ण का दो बार उच्चारण होता है । इन दोनों वर्णों में सयोगादि वर्ण तकार के द्वित्व से उत्पन्न क्रमज पूर्व तकार वर्ण पूर्व स्वर का अंग होता है तथा द्वितीय तकार वर्ण जो कि विभागज शब्द है, परस्वर का अङ्ग होता है । 'रुक्म' शब्द में क तथा तत्प्रमाण यमवर्ण द्वितीय ककार पूर्व स्वर के अंग हैं तथा मकार परस्वर का अंग है ।

रेफ और ह्रस्व के सयोगादि वर्ण होने पर जहाँ उनमें परे विद्यमान स्पृश वर्णों को द्वित्व होता है, वहाँ 'पाश्चव्यम्' आदि शब्दों में रेफ तथा क्रमज पूर्व शकार पूर्व स्वर के अंग हैं एव श, व, य—ये परस्वर के अंग होते हैं । 'वाप्यार्य' शब्द में रेफ से परे प्रथम पकार पूर्व स्वर का तथा य और य पर

स्वर के अग्र हैं। 'वाहृत्तो' में ह्वात् में परे विद्यमान पूर्व 'व' पूर्व स्वर का तथा द्वितीय वकार पर स्वर का अग्र है। क्रमज वर्ण में उत्तर विद्यमान व्यञ्ज से परे यदि स्पश वर्ण हो, तो पूर्व स्वर का अग्र होता है। 'पाप्प्या' इस उदाहरण में र, प, य पूर्व स्वर के अग्र हैं। यहाँ क्रमज के उत्तर विद्यमान द्वितीय 'प' भी पूर्व स्वर का अग्र है क्योंकि उनसे परे स्पश वर्ण 'ए' विद्यमान है। इसी प्रकार 'वप्पन्' में र, प, य पूर्व स्वर के तथा मकार पर स्वर का अग्र है।

'ङ्णो बुक् दुक् शरि' 'नदच' 'दि तुक्, इन पाणिनीय सूत्रों के द्वारा विधीयमान क, ट, घ और त पूर्व स्पश डकार, णकार तथा नकार के द्विरक्त रूप ही हैं। क्योंकि ह्रस्व स्वर से परे विद्यमान ड, ण, न को जंमे स्वर परे होने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' इत्यादि म द्विरक्षिन् होती है, उसी प्रकार स्वर-भक्ति-युक्त शकारादि उष्म वर्णों के परे होने पर भी उच्चारण-सम्प्रदाय-क्रम के अनुरोध से किसी भी स्वर से परे विद्यमान डकारादि को द्विरव हो जाता है। किंतु उष्म वर्ण नासिक्य के विरोधी हैं अतः द्विरक्षिन् होने पर उष्म वर्णों के सनिकृष्ट डकारादि से नासिक्य का अपहरण होकर उनमें केवल स्पर्गमात्रता शेष रह जाने से वे डकारादि ककारादि में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः प्राङ्क् पठ, सुगण् ट् पष्ठ, सरस सञ्च्छम्भु इत्यादि प्रयोगों की निष्पत्ति होती है। इन सब उदाहरणों में द्वित्वमिद्ध ककारादि वर्ण पूर्व स्वर के अङ्ग हैं।

'कात्स्न्यम्' शब्द में दो अकारों के बीच वर्तमान अ, र, त, स, न, य ये ६ वर्ण हैं। इनमें अ, र, त ये तीन पूर्व अक्षर के तथा स, न, य ये पर अक्षर के अग्र हैं। यहाँ पर तकार पर पृष्ठतोबल द्वारा पर अक्षर का तथा सकार पर पुरतोबल द्वारा पूर्व अक्षर का आक्रमण होने पर भी, विरोध होने पर मूल बल से सिद्धि मानी जाती है, इस न्याय से मूल कृत्स्न शब्द में त पूर्व स्वर का अग्र होता है और सकार परस्वर का। अतः कृत्स्न शब्द से निष्पन्न कात्स्न्यं शब्द में भी तकार पूर्व स्वर का तथा सकार परस्वर का ही अग्र माना जाता है। 'तक्म्यम्' शब्द में क, म, य, पर पूर्व स्वर का तथा य, म, क, पर परस्वर का बल प्रयोग होने के कारण विरोध होने से और विरोध में सामोप्याधिक्य के कारण ककार पूर्व स्वर का तथा यकार पर स्वर का अग्र होता है। मकार पर दोनों का समान अधिकार प्राप्त होने पर भी पृष्ठतोबल पुरतोबल का अतिक्रमण कर

लेता है, इस न्याय के अनुसार मकार परस्वर का अग्र होता है, क्योंकि मकार में पुरतोबल के कारण पूर्व स्वर की तथा पृष्ठतो बल के कारण पर स्वर का अग्रता प्राप्त है। वैदिको के सिद्धान्तो में तो पूव स्वर के बल से अवष्टब्ध ककार पर भी परस्वर के बल की प्रसक्ति होने से दो विरुद्ध बलो के द्वारा आकृष्यमाण दो 'क' वर्णों की निष्पत्ति होकर 'तक्कम्भ्यम्' ऐमा बनता है। यहाँ उत्तम धार पर 'म' के प्रयत्न का आक्रमण होने से वह नासिक्य माना जाता है, अतः पर ककार यम कहलाता है। 'विश्वप्सन्त्या' इस उदाहरण में पकार पूर्वाङ्ग है अकार पराङ्ग है। 'विष्वक् पाश' में ककार पर पूर्व स्वर तथा पर स्वर के बल का समान आक्रमण होने पर भी पदात्त यति से विच्छेद के कारण ककार पूर्व स्वर का ही अग्र है न कि पर स्वर का। इस प्रकार अनेक स्वरो के होने पर उनमें उपर्युक्त रीति से वाध्यबाधकभाव होता है।

यह पहिले बतला दिया है कि व्यजनो से सर्वथा असस्पृष्ट स्वर तथा व्यजनो के होने पर व्यजनसपृक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'स्त्र्यकूटप' शब्द स, त, र, य, अ, र, क, ट इन आठ वर्णों में युक्त, अकार क छोड़ कर शेष मात्र व्यजनो से युक्त तथा अकार स्वर म स्वर की दो बिन्दु (मात्रा) एवं सात व्यजनो की सात बिन्दु (मात्रा) इस प्रकार मिलकर ९ बिन्दुओं में युक्त एक अक्षर है। यहाँ अकार वर्णमान है अक्षर नहीं। क्योंकि व्यजनो के होने पर व्यजनसहित ही स्वर अक्षर कहलाता है असपृक्त नहीं। इस प्रकार सात व्यजन तथा अकार स्वर ये आठो वर्ण अकाररूप एक अक्षर के अग्र है क्योंकि इन सबका उच्चारण अकार अक्षर के अधीन ही है। यह अकार अक्षर सात व्यजनो से अधिक व्यजनो को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। वा पृष्ठत ४ तथा पुरत ३ व्यजनो को ग्रहण कर सकता है, अधिक नहीं। पृष्ठत पाचवाँ व्यजन तथा पुरत चौथे व्यजन का यदि उच्चारण किया जाय तो अगत्य कोई दूसरा स्वर वहाँ आयेगा। क्योंकि पूर्व स्वर की उन व्यजनो के उच्चारण में सामर्थ्य नहीं है। जैसे 'न स्त्र्यकूटप' इस उदाहरण में नकार टकार में हठात् दूसरा स्वर आ जाता है।

अक्षर में देवानुधान—

निरवयव मन में नौ प्राण-खण्डो का समावेश है। वे नौ खण्ड प्राणमय कोश है। उन प्राणात्मक नौ बिन्दुओं में पञ्चम बिन्दु केन्द्ररूप होने से आत्म

कहनाती है। अ र ष विन्दुएँ उनके अंग हैं। पञ्चम विन्दु पर स्थित स्वर अक्षर कहलाता है। वही स्वर ऐन्द्रवायव ग्रह है और वाक् का आत्मा है। यह पञ्चम विन्दुस्य स्वररूप प्राण वाङ्मय होने से इन्द्र कहलाता है। यही इन्द्र-प्राण सरस्वती का अधिष्ठाता सरस्वान् है। जैसा कि बृहद्देवता में कहा है—

सरासि घृनवत्यस्य सति लोकेषु यत् त्रिषु ।
सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचमाहु सरस्वतीम् ॥

यद्यपि यह वाक् पार्थिव होने से आग्नेयी मानी जाती है। जैसा कि 'तस्य वा एतस्याग्नेवगिवोपनिपत्' इस शतपथ-श्रुति में बतलाया गया है, तथापि यह पार्थिव वाक् इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उस इन्द्रप्राण के साथ वाक् का एकीभाव हो जाता है अतः इसे ऐन्द्रो कहा जाता है यह पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण आन्तरिक्य तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। इनमें दिव्येन्द्र प्राण ही प्रज्ञाप्राण कहलाता है। यही दिव्येन्द्र-पी प्रज्ञाप्राण वितायमान (प्रलियमाण) ध्वनिरूप वाक् में स्वर-व्यजन-विभाग करता है और आन्तरीक्ष्य इन्द्रप्राण वायु से युक्त रहता है। इन्द्रतुरीय (इन्द्र जिसमें चौथा भाग है) वायु ऐन्द्रवायव ग्रह बनता हुआ आग्नेयी ध्वनिरूप वाक् को अधिष्ठित करता है। क्योंकि अग्नि गायत्र है। इस वाक् का गायत्र अग्नि देवता है। अतः इस वाक् को गायत्री कहते हैं। गायत्री अष्टावयव है। इसलिए एक स्वर से अनुगत सातों व्यजन स्वरसहित एक अक्षररूप वाक् है। इस वाक् का उच्चारण (आत्माश) स्वर नौ विन्दुओं में से पञ्चम व षष्ठ विन्दु पर अधिष्ठित होता है। किन्तु प्राणरूप इन्द्राश बृहतीरूप नौ विन्दुओं को व्याप्त करता है। इसीलिये श्रुति में कहा है—'यावद् ब्रह्म विच्छित तावती वाक्' 'यत्र ह क्व च ब्रह्म तद्वाक्, यत्र वा वाक् तद्वा ब्रह्म' (ऐ० अ०) अर्थात् जहां तक ब्रह्म है वहाँ तक वाक् व्याप्त है, इन्द्र ही वाक्त्वो का ब्रह्म कहलाता है क्योंकि इन्द्र आत्मा व ब्रह्म समानार्थक शब्द है। जिस प्रकार शरीर आत्मा सारे शरीर को व्याप्त कर रहता है उसी प्रकार वागात्मा इन्द्र नौ विन्दुओं को व्याप्त कर रहता है। यह नवविंदात्मक वाक्त्व ही वाङ्मय इन्द्रप्राण का शरीर है। इन्द्र-प्राण के शरीरभूत वाग् में जितने व्यजन प्रविष्ट है उतनी वाक् इन्द्र से परिमित होती है। इस प्रकार आठ वर्णों तथा नव विन्दुओं का एकक्षर वाक् निष्पन्न होता है। इसी रहस्य का उद्घाटन निम्न ऋग्वेद में किया है—

वाचमष्टापदीमह नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।

इन्द्रात् परितन्व ममे । ऋ० स० ८।७६।१२

इसी मंत्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में निम्न प्रकार से की है —
 वृहतीरूप इन्द्रप्राण ३६ अक्षरात्मक है। इस इन्द्रप्राण ने आठ पदोवाली तथा नव विदुवाली वाक् को परिमित किया। इस वाक् में चार अक्षरोवाले आठ पाद होते हैं, इस प्रकार वाक् में ३२ अक्षर हो जाते हैं, अतः ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् ही अष्टापदी वाक् है। एक चतुरक्षरात्मक पद और मिलाने पर वही अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् नवपदी वृहती बन जाती है। इसीलिये इस अष्टापदी वाक् को नवस्रक्ति कहा गया है। स्रक्ति शब्द का अर्थ कोण है। इस प्रकार यह अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् ऋतरूप वृहती प्राण का स्पर्श करती है, उससे अभिन्न हो जाती है। ३६ अक्षरात्मक वृहती में ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् वाक् का अन्तर्भाव हो जाता है। यही वाक् (अनुष्टुप्) का प्राणरूप वृहती के साथ एकीभाव है। 'ऋतस्पृशम्' शब्द का 'अनुष्टुप् वाक् वृहती से स्पृष्ट है' ऐसा अर्थ सायण ने किया है। और ऐतरेय श्रुति में 'सत्यवाक् ऋत वाक् से स्पृष्ट है' यह अर्थ किया है श्रोग द्वारा ग्राह्य शब्द ही सहृदय होने से 'सहृदय सत्यम्' इस परिभाषा के अनुसार सत्यवाक् है। वह हृदयरहित ऋतवाक् से नित्य स्पृष्ट होती है। हृदय का अर्थ यहाँ केन्द्र है।

यहाँ यह रहस्य है कि ऋतु व सत्य नामक दो नेत्र होते हैं। नेत्र का अर्थ सूत्र है। अतः ऋत व सत्य नामक दो सूत्र होते हैं। हृदयतो ग्राही अर्थात् केन्द्र से ग्रहण करने वाला सूत्र सत्य कहलाता है तथा सर्वतो ग्राही नेत्र (सूत्र) ऋत कहलाता है। अतः अशरीर तथा अहृदय (शरीररहित तथा हृदयरहित) सभी पदार्थ ऋत नेत्र द्वारा गृहीत होने से ऋत कहलाते हैं और सहृदय व सशरीर सभी पदार्थ 'सत्य-नेत्र' द्वारा गृहीत होने से सत्य कहलाते हैं। अप्, वायु तथा सोम अशरीर होने से ऋत है। अग्नि, यम व आदित्य सशरीर होने से सत्य है। अप् शब्द से पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या नामक वाक् का ग्रहण है। जिसे ऊपर अष्टापदी गायत्री वाक् कहा गया है। यह वाक् अपनी योनि (कारण)रूप ऋत वाक् से सम्बद्ध होती हुई ही स्वरूप धारण करती है। ऋत वाक् ही उसका प्रभव तथा प्रतिष्ठा है। वह अष्टापदी गायत्री वाक् अन्त में ऋतरूप पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या वाक् में ही लीन

कहनातो है। अन्तर् ८ वि द्वाँ उनके अंग हैं। पञ्चम त्रिदु पर स्थित स्वर अक्षर कहलाता है। यही स्वर ऐन्द्रवायव ग्रह है और वाक् का आत्मा है। यह पञ्चम बिन्दुम्य स्वररूप प्राण वाङ्मय होने में इन्द्र कहलाता है। यही इन्द्र-प्राण सरस्वती या अधिष्ठाता सरस्वती है। जैसा कि चूडामणि में कहा है—

सरांसि घृणवत्यस्य सति सोरोषु यत् त्रिषु ।

सरस्वन्तमिति प्राहुर्वाचमाहु सरस्वतीम् ॥

यद्यपि यह वाक् पार्थिव होने से धाम्नेयी माती जाती है। जैसा कि 'तस्य वा एतस्याग्नेयगियोपनिषत्' इम दासपय-श्रुति में घतलाया गया है, तथापि यह पार्थिव वाक् इन्द्र प्राण द्वारा अधिष्ठित होने से उम इन्द्रप्राण के माय वाक् का एकीभाव हो जाता है अतः इसे ऐन्द्री कहा जाता है यह पार्थिव वागधिष्ठाता इन्द्र प्राण भ्रान्तरिदय तथा दिव्य भेद से दो प्रकार का है। इम दिव्येन्द्र प्राण ही प्रजाप्राण कहलाता है। यही दिव्येन्द्रमयी प्रजाप्राण विनायमान (प्रसन्नियमाण) ध्वनिरूप वाक् में स्वर-व्यजन-विभाग करता है और श्रान्त-रीक्ष्य इन्द्रप्राण वायु से युक्त रहता है। इन्द्रतुरीय (इन्द्र जिसमें चौथा भाग है) वायु ऐन्द्रवायव ग्रह धनता हुआ धाम्नेयी ध्वनिरूप वाक् को अधिष्ठित करता है। क्योंकि अग्नि गायत्र है। इम वाक् का गायत्र अग्नि देवता है। अतः इस वाक् को गायत्री कहते हैं। गायत्री अष्टावयव है। इसलिए एक स्वर में अनुगत सातों व्यजन स्वरसहित एक अक्षररूप वाक् है। इस वाक् का उक्त्याश (आत्माश) स्वर नौ बिन्दुओं में से पञ्चम व षष्ठ बिन्दु पर अधिष्ठित होता है। किन्तु प्राणरूप इन्द्राश वृहतीरूप नौ बिन्दुओं की व्याप्त करता है। इसीलिये श्रुति में कहा है—'वाक् ब्रह्म विष्ठित तावती वाक्' 'यत्र ह वक् च ब्रह्म तदाक्, यत्र वा वाक् तदा ब्रह्म' (ऐ० आ०) अर्थात् जहाँ तक ब्रह्म है वहाँ तक वाक् व्याप्त है, इन्द्र ही वाक्त्वों का ब्रह्म कहलाता है क्योंकि इन्द्र आत्मा व ब्रह्म समानाथक शब्द हैं। जिस प्रकार शरीर आत्मा मारे शरीर की व्याप्त कर रहता है उसी प्रकार वागात्मा इन्द्र नौ बिन्दुओं की व्याप्त कर रहता है। यह नवबिन्दात्मक वाक्त्व ही वाङ्मय इन्द्रप्राण का शरीर है। इन्द्र-प्राण के शरीरभूत वाक् में जितने व्यजन प्रविष्ट है उतनी वाक् उस इन्द्र से परिमित होती है। इस प्रकार आठ वर्णों तथा नव बिन्दुओं से परिमित यह एकाक्षर वाक् निष्पन्न होती है। इसी रहस्य का उद्घाटन कुहसुति काण्व ने निम्न श्लोमत्र में किया है—

वाचमष्टापदीमह नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।

इन्द्रात् परितन्व ममे । ऋ० ङ० ८।७६।१२

इसी मंत्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में निम्न प्रकार से की है —
 वृहतीरूप इन्द्रप्राण ३६ अक्षरात्मक है। इस इन्द्रप्राण ने आठ पदोवाली तथा नव त्रिदुवाली वाक् को परिमित किया। इस वाक् में चार अक्षरोवाले आठ पाद होते हैं, इस प्रकार वाक् में ३२ अक्षर हो जाते हैं, अतः ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् ही अष्टापदी वाक् है। एक चतुरक्षरात्मक पद और मिलाने पर वही अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् नवपदी वृहती बन जाती है। इसीलिये इस अष्टापदी वाक् को नवस्रक्ति कहा गया है। स्रक्ति-शब्द का अर्थ कोण है। इस प्रकार यह अष्टापदी अनुष्टुप् वाक् ऋतरूप वृहती प्राण का स्पर्श करती है, उससे अभिन्न हो जाती है। ३६ अक्षरात्मक वृहती में ३२ अक्षरात्मक अनुष्टुप् वाक् का अन्तर्भाव हो जाता है। यही वाक् (अनुष्टुप्) का प्राणरूप वृहती के साथ एकीभाव है। 'ऋतस्पृशम्' शब्द का 'अनुष्टुप् वाक् वृहती से स्पृष्ट है' ऐसा अर्थ मायण ने किया है। और ऐतरेय श्रुति में 'सत्यवाक् ऋत वाक् से स्पृष्ट है' यह अर्थ किया है श्रोत्र द्वारा ग्राह्य शब्द ही सहृदय होने से 'सहृदय सत्यम्' इस परिभाषा के अनुसार सत्यवाक् है। वह हृदयरहित ऋतवाक् से नित्य स्पृष्ट होती है। हृदय का अर्थ यहाँ केन्द्र है।

यहाँ यह रहस्य है कि ऋतु व सत्य नामक दो नेत्र होते हैं। नेत्र का अर्थ सूत्र है। अतः ऋतु व सत्य नामक दो सूत्र होते हैं। हृदयतोत्राही अर्थात् केन्द्र से ग्रहण करने वाला सूत्र सत्य कहलाता है तथा सबतोत्राही नेत्र (सूत्र) ऋतु कहलाता है। अतः अशरीर तथा अहृदय (शरीररहित तथा हृदयरहित) सभी पदार्थ ऋतु नेत्र द्वारा गृहीत होने से ऋतु कहलाते हैं और सहृदय व अशरीर सभी पदार्थ 'सत्य-नेत्र द्वारा गृहीत होने से सत्य कहलाते हैं। अग्नि, वायु तथा सोम अशरीर होने से ऋतु हैं। अग्नि, यम व आदित्य अशरीर होने से सत्य हैं। अग्नि शब्द से पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या नामक वाक् का ग्रहण है। जिसे ऊपर अष्टापदी गायत्री वाक् कहा गया है। यह वाक् अपनी योनि (कारण)रूप ऋतु वाक् से सम्बद्ध होती हुई ही स्वरूप धारण करती है। ऋतु वाक् ही उसका प्रभव तथा प्रतिष्ठा है। वह अष्टापदी गायत्री वाक् अतः में ऋतरूप पारमेष्ठ्यमण्डलस्थ सुब्रह्मण्या वाक् में ही लीन

होती है। इसीलिये इसे ऋतस्पृक् कहा गया है। वह ऋत वाक् अप्रूप है। जैसा कि शनपथ-श्रुति में कहा है—

शोऽपोऽमृजत वाच एव लोकात् । वागेव माऽमृज्या । मेद सबमाप्नोत्
यदिद किञ्च, तस्मादाप । अर्थात् प्रजापति ने वाक् में अप्तत्त्व को उत्पन्न
किया। इस प्रकार वाक् ही उससे द्वारा उत्पन्न की गई। उमने इन सबको
व्याप्त किया। अतः 'आप' नाम से व्यपदिष्ट हुई (शत० ६।१।१।६)। यह
वाक् ऋत है। इसमें जो प्राण है, वह सत्य है। जैसा कि आप एवेदमग्र
आसु। ता आप सत्यमसृजत। (शत० १२।६ प्र०।६ श्रा०) इस श्रुति में
कहा है। अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व अप्तत्त्व ही था। उमने सत्य (सूय) को
उत्पन्न किया।

इस प्राणरूप इन्द्र का अप् रूप वाक् में दो प्रकार से विनियोग होता है—
सत्यरूप से तथा प्रज्ञारूप से। प्रज्ञारूप से वह वाक् में वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य
इन विभागों को उत्पन्न करता है। यह प्रज्ञाप्राण मानुषी वाक् में ही
रहता है न कि अव्याकृत वायु, तेज, जल व पृथिवी को वाक् में, और सत्यप्राण
सभी प्रकार की वाक् में रहता है। सत्यप्राण से रहित अप्-रूप वाक् की
स्थिति ही नहीं होती। इस ऋतरूपी (अप्रूपी) वाक् का समुद्र ही सरस्वात्
कहलाता है। यही शरीररहित व्यापक वाक् है। यही व्यापक ऋतवाक् सत्य-
प्राण के सम्बन्ध से सत्यप्राणावच्छिन्न शरीर बनकर सरस्वती कहलाती है।
अपरिच्छिन्न होने से सरस्वात् ऋत है। सत्यप्राण से परिच्छिन्न होने के कारण
सरस्वती सत्य है। यह सत्यप्राण ही प्रज्ञाप्राण से विभाजित होकर अक्षर
बनता है। यही अक्षर वाक् का आत्मा है, यही स्वर है, यही अङ्गी है। व्यजन
जो कि क्षर है, इस अक्षर के अङ्ग है। वे व्यजन इस आत्मरूप अक्षर को
एक बिन्दु से बढ़ाते हैं। अर्थात् व्यजनों की अपेक्षा स्वर में एक बिन्दु अधिक होती
है। व्यजन एक बिन्दु पर स्थित रहता है किन्तु स्वरूप अक्षर बिन्दुद्वयात्मक
प्रदेश को व्याप्त करता है। एक बिन्दु अर्धमात्रा-रूप होता है। अतः एक-
विन्दात्मक प्रदेश में व्याप्त व्यजन अर्धमात्रिक तथा बिन्दुद्वयात्मक प्रदेश में व्याप्त
स्वर एकमात्रिक कहलाता है। वीर्याधिक्य के कारण मध्यवर्ती एक आत्मा
अन्य प्राणों का आत्मा या अङ्गी बनकर अथवा सब प्राणों को व्याप्त करता है।

इसका निरूपण शतपथ के षष्ठ^१ काण्ड में किया गया है। इसी प्रकार साध-
मात्रिक व्यंजनो का यह एकमात्रिक स्वर मात्राधिक्य के कारण आत्मा होता है।
आत्मा होने से ही यह स्वर उन व्यंजनों पर प्रभुत्व रखता है, सब व्यंजनों को
अपने अधीन रखता है। इस एकमात्रिक आत्मविन्दु के षष्ठभाग में उपसर्ग-
स्थानीय चार अर्धमात्रिक विन्दु तथा आगे की तरफ उपधानस्थानीय तीन अर्ध-
मात्रिक विन्दु, इस प्रकार ७ विन्दुओं को यह स्वर अपने अधिकार में रखता है।
सात अर्धमात्रिक व्यंजन विन्दु तथा एकमात्रिक स्वरविन्दु मिलकर आठ होते
हैं। इसी अभिप्राय से वाक् को 'ब्रह्म वं गायत्री अनुष्टुप्' इस ऐतरेयारण्यकश्रुति
द्वारा अनुष्टुप् (अष्टसस्याक्षरा) कहा गया है।

'वाग् अनुष्टुप्' इस प्रकार से वाक् को अनुष्टुप् बतलाते हुए वैदिक
महर्षि अक्षर को उपर्युक्त रीति से अष्टविन्दात्मक मानते हैं। नौ व्यंजनों के
सनिवेश में जितना स्थान लगता है उतना ही स्थान एक स्वर तथा सात व्यंजनों
के सनिवेश में लगता है अतः स्थानतुल्यता के कारण बृहतीप्राणावच्छिन्न अक्षर
ही वागवच्छेद से अष्ट अक्षरों वाला हो सकता है। इसलिये अक्षरात्मक वाक् को
अनुष्टुप् भी कह देते हैं। अथवा चतुरक्षरच्छन्द में प्रत्येक अक्षर आठ अक्षरों वाला है,
इस सिद्धांत से चार अक्षरों वाला छन्द ३२ अवयवों (अक्षरों) वाला बन जाता है।
सभी छन्द चतुरक्षरात्मक होते हैं। २४ अक्षरों का गायत्री छन्द, २८ अक्षरों का
उष्णिक् इस प्रकार २० अक्षरों वाली द्विपदा विराट् के ऊपर चार-चार अक्षरों की
वृद्धि से क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पवित्र, त्रिष्टुप्, जगती छन्द
बनते हैं। अर्थात् प्रत्येक छन्द चतुरक्षरात्मक है, और चारों अक्षरों में प्रत्येक
अक्षर अष्टावयव है। इस तरह प्रत्येक छन्द ३२ अक्षरात्मक होने में सभी वाक्
अनुष्टुप् बन जाती है।

प्रत्येक अक्षर में ६ विन्दुओं में केन्द्रस्थ पञ्चम व षष्ठ विन्दु स्वर के स्थान
हैं, अतः वे ही आत्मा हैं। अन्य सात विन्दुएँ आत्मा का क्रान्तिस्थान होने से
महिमा कहलाती हैं। पञ्चम व षष्ठ विन्दु में स्थित स्वरस्वरूप के बोधक प्रज्ञा-
प्राणरूप इन्द्र से सम्परिष्वक्त अक्षरस्वरूपनिरूपक प्रज्ञा प्राणरूप अथ
आन्तरीक्ष्य इन्द्र सात व्यंजन वर्णों तथा एक स्वर वर्ण को व्याप्त करता है।

१ 'सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा, त्रयं पक्षपुच्छानि, अथ यदेकेन पुरुषेणात्मान
अपयति तेन वीर्येणापमात्मा पक्षपुच्छा युदयच्छति। शत० ६।१।१६।

इसीलिये बृहतीछन्दोरूप इस छन्द में अनुष्टुप्चारिणा भी बन जाती है।
इसीलिये मन्त्र म कहा है—

वीमत्सूनां गयुज ह्यमाहुरपां दिव्यानां सभ्ये चरन्तम् ।
अनुष्टुभमनुचूर्णमाणाभिन्द्र निनिक्यु कवयो मनीषा ॥

इस मन्त्र के अधिदेवत, अधिशब्द तथा अधिभूत भेद में तीन अर्थ हैं।
यहाँ अधिशब्द-पक्षानुसारी इस मन्त्र की व्याख्या उपस्थित की जाती है।

वीमत्सूना = निराश्रय रूप से स्थित रहने में असमर्थ अनएव पराश्रयत्व की
अपेक्षा रखने वाले क्षर व्यजनों के आश्रयप्रदान द्वारा सहयोगी अर्थ को हस
कहते हैं। स्वतन्त्रतया (परानपेक्ष रूप से) स्थित रहने में असमर्थ व्यजनरूप
क्षरो का आश्रय बन कर उन्हें जो अपने में बाँधता है, वह ऐन्द्रवायव ग्रह ही
प्रकृत में हस है।

ये अर्वाङ् उत वा पुराणे वेद विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हसम् ॥

इस मन्त्र में वायु को हस कहा गया है। 'प्राणो वायु' इस श्रुति से वह
हस प्राणरूप है। अक्षरसंज्ञक प्राण ही अक्षरसंज्ञक व्यजनवर्णों को अपने में
बाँधता है। 'अपा दिव्याना' म अप् शब्द वाक् का बोधक है। सोऽपोऽमृजत
वाच एव लोकात्। वागेव साऽमृज्यत। सेद सर्वमाप्नोत् यदिद किञ्च
तस्मादाप' इस शतपथ श्रुति से यही सिद्ध हो रहा है। क्योंकि वाकतत्त्व ही अप्-
रूप में परिणत होता है। तृतीय श्लोक में वर्तमान वाक् तत्त्वों के
समानभाव में यह हस विचरण करता है। अर्थात् उनके साथ रहता है। अर्थात्
ऐन्द्रवायवग्रहरूप प्राण तथा वाक् दोनों एक रूप हैं।

अष्टवर्णात्मिका वाक् अनुष्टुप् कहलाती है। अनु शब्द की इत्य-
भूताख्यान अर्थ में 'लक्षणेत्वभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपयनव ।' इस सूत्र से
कर्मप्रवचनीय सज्ञा है तथा उसके योग में अनुष्टुप् शब्द में द्वितीया विभक्ति है।
अनुष्टुप् शब्द सात व्यजनों तथा उनके आत्मभूत स्वर के सनिवेशस्थानरूप नौ
विदुषो का बोधक है। नौ बिन्दुओं को व्याप्त कर अपना स्वरूपनिर्माण करने
वाने अक्षर शब्द से गृहीत इन्द्र प्राण को वैज्ञानिकों ने विचारदृष्टि से मालूम
किया। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय से वाक् का ही ज्ञान होता है न कि प्राण का, तथापि

अक्षररूपा वाक् अष्टवर्णों से अवच्छिन्न है और वे आठ वर्ण जितने प्रदेश में आते हैं, उतने प्रदेश को वाक् अवच्छेद नहीं कर सकती। अतः वाक् के आलम्बन इन्द्र नामक प्राण को विद्वानों ने अपनी बुद्धि के द्वारा मालूम किया।

यह भूतसमूह वाङ्मय है अतः अधिभूत पक्ष में इस मन्त्र का अधिशब्द के समान ही अर्थ है। इसीलिये 'अप्रक्षिन्न वसु विभर्षि' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऐतरेयारण्यक श्रुति में कहा है—'सोऽयमाकाश प्राणेन वृहत्या विष्टब्धः। तद्यथाऽयमाकाश प्राणेन वृहत्या विष्टब्ध एव सर्वाणि भूतान्यापिपीलिकाम्य प्राणेन वृहत्या विष्टब्धानीत्येव विद्यात् 'अर्थात् यह आकाश वृहती प्राण से विधारित है। जिस प्रकार यह आकाश वृहती प्राण से विधारित है उसी प्रकार पिपीलिकापयन मभी भूत वृहती प्राण से ही विधारित हैं।' यह ऐतरेय श्रुति शब्दाक्षरो की तरह भूताक्षरो में भी वृहती-प्राणरूप इन्द्र की समान अभिव्याप्ति बतला रही है।

उपर्युक्त गीति में सम्भव होने पर स्वर का कान्तिमण्डल सात व्यंजनो तक होता है। किन्तु यह नियम नहीं है कि सात व्यंजनो से युक्त स्वर ही अक्षर हो। एक अक्षर में नौ अर्धमात्रारूप विन्दुओं की व्याप्ति को स्वरूपयोग्यता होते हुए भी सर्वत्र नौ विन्दुओं को व्याप्त ही करे यह नियम नहीं है। यदि व्यंजनो का सर्वथा अभाव हो तो केवल स्वर भी 'स्वरोऽक्षरम्' इस परिभाषा से अक्षर कहलाता है। किन्तु व्यंजनो के होने पर व्यंजनसहित स्वर ही अक्षर कहलाता है, व्यंजनरहित नहीं। व्यंजनसहित होने पर भी कहीं एक व्यंजन से, कहीं दो से, कहीं तीन से, कहीं चार से, कहीं पाँच से, कहीं छ से, कहीं सात व्यंजनो से युक्त स्वर अक्षर कहलाता है। जैसे 'न' शब्द में नकाररूप एक व्यंजन से युक्त 'वाक्' में 'व' तथा 'क' इन दो व्यंजनो से युक्त तथा 'प्राक्' में प, र, क इन तीन व्यंजनो से युक्त स्वर अक्षर है।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि स्वरच्छायापन्न ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न वाले अन्तस्थ (य, र, ल, व) तथा अर्धस्पृष्ट प्रयत्न वाले ऊष्मा (श, ष, स, ह) वर्णों से युक्त होने पर ही स्वरकान्ति-मण्डल सात व्यंजनो वाला होता है। अन्तस्थ और ऊष्म वर्णों के अभाव में स्वर का आक्रमण-बल घट जाता है। इसलिए 'क्त्नट्' इस उदाहरण में स्वर पृष्ठत क, त, न इन तीन व्यंजनो को

तथा पुरतः ट, प इन दो व्यंजनो को ही आक्रान्त करता है अधिक को नहीं। इस प्रकार वर्णविशेषों में स्वरक्रान्तिमण्डल में तागतम्य (न्यूनाधिकता) होता रहता है। इसी प्रकार आम्यन्तर स्थान कण्ठादि का तथा आम्यन्तर प्रयत्न स्पृष्टादि का एव बाह्यस्थानो व वाच्यप्रयत्नो का बल में तारतम्य है। इसी कारण पत्व, एत्व, कुत्व, चुत्व आदि आम्यन्तस्थाननिवन्धन तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय आदि बाह्यस्थाननिवन्धन, व्याकरणशास्त्रोक्त सभी सन्धिफल होते रहते हैं, यह निरुक्तकारों का सिद्धान्त है।

जैसे—राजसु, वित्सु, रामेपु, हरिपु, हवीपि आदि उदाहरणों में मकार के परस्वर का अग होने पर भी पूर्ववर्ती अकार, इकारादि स्वरों के बल का आक्रमण होने से स्थानापकर्षण के कारण मूधन्य पत्व इकारादि से परे हो जाता है। अतः 'रामाणाम्' 'पण्णाम्' में रेफ व प के कारण न को एण हो जाता है। वाक्, क्तम्, रक्तम्, निर्णक्तम् इत्यादि म कुर्य तथा 'सञ्चरितम्' इत्यादि में चुत्व हो जाता है। इस प्रकार स्थान व प्रयत्न के क्रांतिबल के तारतम्य से विभिन्न सन्धिफल होते हैं।

इस प्रकार अक्षरस्वरूप की तथा अक्षर में स्वर और व्यंजन के अङ्गाङ्गीभाव की व्याख्या की। वहाँ स्वर के अङ्गभूत इन व्यंजनों में उपमर्ग (पूर्वव्यंजन) के होने या न होने पर उपधान (उत्तर व्यंजन) बल के कार्योंपघायक न होने से अक्षर लघु ही होता है। जैसे—अ, य, न्य, न्य आदि में। यहाँ अधोव्यापार अर्थात् स्वर से पूर्व व्यंजनव्यापार के होने पर भी ऊर्ध्वव्यापार (स्वर के पश्चात् व्यंजनव्यापार) के न होने से अक्षर लघु ही रहता है। उपधान में आक्रमण व्यापार के फलोपघायक होने से अक्षर गुरु हो जाता है। दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ इत्यादि) सन्ध्यक्षर स्वरों (ए, ऐ, ओ, औ) अनुस्वारान्त स्वर (अ) विसर्गान्त स्वर (अ) व्यंजान्त स्वर, अत् आदि तथा दो व्यंजनों के संयोग से पूर्ववर्ती स्वरों (अकं-अक्त आदि) के उपहित (पश्चाद्वर्ती) वर्ण से युक्त होने के कारण आगे अकंव्यापार होने से अक्षर म गुरुत्व उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार लघुगुरुभेद से अक्षर का द्वैविध्य है।

इति श्रीमद्युसूदनविद्यावाचस्पतिप्रणीत पञ्चाक्षरान्त ग्रन्थ में अक्षरपरिष्कारनामक चतुर्थ प्रपाठ की हिन्दी व्याख्या समाप्त।

सन्धि-परिष्कार पञ्चम प्रपाठ

अक्षर का दूसरे अक्षर के साथ सम्बन्ध होने पर परस्पर वन्धन से हृदय-ग्रथि की उत्पत्ति होकर क्षर की उत्पत्ति होती है। परब्रह्म विद्या में जिस प्रकार भूत^१ क्षर कहलाते हैं उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में व्यञ्जन क्षर कहलाते हैं। इन्द्रियग्राह्य क्षर व्यञ्जन वर्णों में इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य प्राण की अभिव्यक्ति होती है। अतः 'व्यज्यते प्राण अनेन' इस व्युत्पत्ति से व्यजन वर्ण व्यजन कहलाते हैं।

१ निरूपकभेद से सन्धिद्विव्यक्ति

जिस प्रकार परब्रह्मविद्या में अक्षरो तथा क्षरो का सन्धियोग (मेल) निरूपक के भेद से दो प्रकार का है, उसी प्रकार शब्दब्रह्मविद्या में भी अक्षरो व व्यजनो का सन्धियोग निरूपकभेद से दो प्रकार का है। वे दो प्रकार विभूति तथा योग हैं। इनमें योगसश्लेष तथा सपरिष्वङ्ग भेद से दो प्रकार का है।

विभूति

जहाँ युक्त (सम्बद्ध) वस्तुओं में एक वस्तु सम्बन्ध के लिए व्यापारशील हो, वद्ध तथा परतन हो, तथा दूसरी व्यापाररहित अवद्ध तथा स्वतन्त्र हो, वहाँ व्यापक का व्याप्य में अनुग्रह विभूति कहलाता है। 'जल की लवण, में आकाश को वायु में दर्पण की मुख में तथा अव्यय ब्रह्म की भूतसमूह में व्याप्ति विभूति सम्बन्ध है। यहाँ जलादि व्यापक है तथा लवणादि व्याप्य हैं।

जिस प्रकार लोक में अक्षररूप भूतो में अक्षर रूप प्राण की व्याप्ति होती है। उसी प्रकार अक्षररूप स्वर की क्षर रूप व्यजनो में व्याप्ति होती है। जैसे— 'स्त्र्यकूट' शब्द में अकार रूप अक्षर (स्वर) की स् त् र् य् इन चार पूर्ववर्ती तथा र् क्, द् इन तीन उत्तरवर्ती व्यजनरूप क्षरो में व्याप्ति है। क्षरो में भी एक क्षर की दूसरे क्षर में व्याप्ति विभूति सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'रामाणाम्', 'वर्त्मणाम्' इन उदाहरणों में मूर्धन्य र् और प् वर्णों के प्रयत्न की महिमा से दन्त्य नकार मूर्धन्य 'ण' बन जाता है। अतः यहाँ मूर्धन्य वर्णों की व्याप्ति दन्त्य नकार वर्णों में है।

१ क्षर सर्वाणि भूतानि । शीता० अ० १५ ।

२ अम्मो लवणे, धायो व्योम, मुखे दर्पण घटत् ।

विमपति तद्वत् विरजा भूतप्रायेऽव्यय परम ॥

सश्लेष

उपर्युक्त उदाहरणों में ही व्याप्य का व्यापक में सम्बन्ध सश्लेष कहलाता है। इस सम्बन्ध को एकत (इकतरफा) बन्धयोग कहते हैं। जैसे— 'लवण का जल में, वायु का आकाश में, मृत का दण्ड में तथा विरजा अभ्यय ब्रह्म का भूतममूह में सम्बन्ध तथा व्याप्य लवणादि का व्यापक जलादि में सम्बन्ध सश्लेष कहलाता है।

इसी प्रकार व्यजन अवद्ध स्वतन्त्र स्वर में सदिलिप्त अर्थात् बद्ध हैं। व्याप्य व्यजनो का व्यापक स्वर में जो सम्बन्ध है वही सश्लेष है। धरो में भी एक का दूसरे के साथ सश्लेष होता है। वहाँ सश्लेषण द्रव्य के सम्बन्ध में एक का दूसरे के साथ सम्बन्धमात्र होता है एक का दूसरे में अनुप्रवेश नहीं। इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में कहा है —

अर्थात् 'अव्यक्त स्वरूप वाले मैंने सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है। सारे भूत मेरे में स्थित हैं किन्तु मैं भूतों में स्थित नहीं हूँ।' ८ गीता ९ अ ४। मेरे इस ईश्वरीय सम्बन्ध को देखो कि भूत मेरे में स्थित नहीं है। मैं भूतों को धारण करने वाला हूँ पर भूतों में स्थित नहीं हूँ। मैं भूतभावन हूँ। गीता ९।१।

जिस प्रकार सबत्र गतिशील महान् वायु आकाश में स्थित है उसी प्रकार सारे भूत मेरे में स्थित हैं, यह समझो।' गीता अ ९।६।
इन गीतापद्यों में प्रथम पदों के पूर्वार्ध में विभूति सम्बन्ध का निरूपण है।

'मत्स्थानि सबभूताति' इस तृतीय पाद में एकतो बन्धनात्मक सश्लेष-रूप योगसम्बन्ध का निरूपण है। 'न चाह तेष्वस्थित' 'इस चतुर्थपाद में उस सश्लेष में दूसरे (अभ्यय) का अवन्धन बतलाया गया है।' न च मत्स्थानि भूतानि' इसके द्वारा भूतों का ब्रह्म से सश्लेष होने पर भी वह परस्पर समन्वयरूप अनुप्रवेशात्मक नहीं है, इसका प्रतिपादन किया गया है।

२ व्यजनभेद से सश्लेषसाप्तविध्य

इस सश्लेष सम्बन्ध को व्यजनभेद से सात प्रकार का याज्ञवल्क्य ने माना है — १अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, ज्वालापिण्ड, मृत्पिण्ड, वायुपिण्ड

१ अम्मसि लवण, वायुर्लोमि, मृत दण्डो यद्वत् ।
दिलिप्यति तद्वत् विरजसि भूतप्रामोष्ये परमे ॥

२ अय सप्तविधा सयोगपिण्डा —
यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सात स्यान् दारुपिण्डवत् ।
अन्त-स्ययमवर्जं सु ऊर्णापिण्ड विनिदिशेत् ॥१॥

तथा वज्रपिण्ड । जब वर्रों (व्यजनो) का मयोग यम वर्रों के साथ होता है, तब उम सयोग को अय पिण्ड कहते हैं । अर्थात् यम वर्रों में इस प्रकार विच्छेद करना चाहिए जिसमें जिम प्रकार परस्पर सङ्घिष्ट अवयव वाले लोह-खण्डों का विच्छेद होता है ऐमा विच्छेद प्रतीत हो । जैसे अग्नि 'पत्कृती इत्यादि में गकार के पूर्वाङ्ग होने में अकार के साथ उच्चारण होने से जब नकार में उमका विच्छेद होता है तब गकार तथा नकार का मध्यवर्ती नकारगुणक अनुनासिक द्वितीय गकार रूपी यम वर्रों भी माय ही उच्छिन्न हो जाता है । ऐसी स्थिति में यमवर्रों का उत्पत्तिकालिक पूर्वं गकार से पृथक् श्रवण नहीं होता ।

अन्त स्थ वर्रण य, र, ल, व के साथ व्यजनो के सयोग को दारुपिण्ड कहते हैं अर्थात् अन्त म्थमयुक्त पिण्डों में इस प्रकार वर्रणविच्छेद होता है जिस प्रकार फाण्ट के शिथिलरूप म सङ्घिष्ट अवयवों का होता है । जैसे—मत्यम्, अश्व, विल्मिने, इत्यादि में लकार यकारादि का विच्छेद । अन्त स्थ तथा यम वर्रों को टोटकर ऊमवर्रों के माथ व्यजनो के सयोग को ऊर्रापिण्ड कहते हैं । अर्थात् ऊम वर्रों के साथ व्यजनो का सयोग होने पर उनका इस प्रकार से विच्छेद करना चाहिए जिम प्रकार शिथिल अवयव वाले ऊर्रा (ऊन) के पिण्डावयवों का होता है । जैसे—अश्व, अश्मन्, अश्मं इत्यादि में । अत-स्थवर्रों के माथ सयोग में पञ्चम तथा अपञ्चम वर्रों के मध्यवर्ती विच्छेद के अशरीर होने से कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । इसी प्रकार अन्तस्थ वर्रों के साथ सयोग में भी अन्तस्थवर्रों के लघुप्रयत्नतर होने से आत्यन्तिक सन्निकष के कारण पिण्डनायक होने से किसी विशेषता की उपलब्धि नहीं होती ।

नासिक्य पञ्चमवर्रों के साथ हकार के सयोगपिण्ड को ज्वालापिण्ड कहते हैं । जैसे बह्नि, ब्रह्म, गृह्णामि इत्यादि में । अनुस्वार तथा अनुनासिक-सहित सयोगपिण्डों को मृण्मय पिण्ड कहते हैं । जैसे—त्रिशी, सस्तुप् इत्यादि में । सोपध्मान (उपध्मानयुक्त) सयोगपिण्डों को वायुपिण्ड कहते हैं ।

अन्त स्थयमसयोगे विशेषो नोपलभ्यते ।

अशरीर यम विद्यादत्त स्थ पिण्डनायकम् ॥२॥

ज्वालापिण्डान् सनासिकयान् सानुस्वारास्तु मृ-मयान् ।

सोपध्मान् वायुपिण्डास्तु जिह्वामूले तु यज्जिण ॥

जैसे—छोपू पिता इत्यादि में। यहाँ पयगं से पूर्व ऊम उपागमानीय के उच्चारण में वायु की सी गम्भीर ध्वनि होती है, इस सयोग को वायुपिण्ड कहते हैं। जिह्वामूलसहित सयोगपिण्ड को वज्रपिण्ड कहते हैं क्योंकि ववर्ग से पूर्व ऊम वर्णों का उच्चारण करने पर ऊमवर्ण का गकार के समान उच्चारण होने से पकार की गकार के साथ वज्र की तरह अत्यन्त सदिलष्ट प्रतीति होती है, अतः इसे वज्रपिण्ड सयोग कहते हैं।

सम्परिप्लव्ङ्ग

सपरिप्लव्ङ्ग सम्बन्ध परस्पर बन्धनरूप होता है। अक्षर का अक्षर से सम्बन्ध सर्परिप्लव्ङ्ग (सम्बन्ध) होता है जैसे शारीरक विज्ञानात्मा का प्राण आत्मा के सम्परिप्लव्ङ्ग सम्बन्ध है क्योंकि दोनों ही आत्मा प्राणरूप होने से अक्षर हैं। इसी प्रकार द्रव्यद्रव्याविद्या में एक स्वर (प्राण) का दूसरे स्वर से मेल (सन्धि) होता है। जैसे—'मदीय, भानूदय' इत्यादि में क्रमशः ई+इ तथा उ+उ इन दो-दो स्वरों का मेल है। दिव्यस्ति, दिक्वस्ति, दात्रास्ति इन उदाहरणों में क्रमशः इ, उ, ऋ, इन स्वरों का परस्पर अक्षर से योग है। दिव्यस्ति इत्यादि में इकारादि का परस्पर से मेल होने पर तीन स्थितियों की संभावना की जाती है। दवाने से सकोच होता है और इस प्रकार एकमात्र स्वर की अधमात्रा शेष रह जाती है। अथवा अय स्वर के उदर में दूसरे स्वर के अग का प्रवेश हो जाता है और इस नवबिन्दुपर्यन्त व्याप्ति वाले स्वर में पञ्चम व षष्ठ विन्दु जो कि स्वर के स्वरूप है, उनमें इकार की षष्ठ बिन्दु में अकार की पञ्चम बिन्दु का समावेश हो जाने से एकमात्रिक इकार की अधमात्रा ही शेष रह जाती है। अथवा दोनों स्वरों के अत्यन्त समीप आकर मिलने पर स्वर का एक अग इकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अकार में संयुक्त इकार स्वर की अधमात्रा कट जाती है। अधमात्रा का छेद हो जाना ही इकार की अङ्गक्षति है। इन तीनों ही स्थितियों में अर्थात् स्वर का सकोच मानने में, इकार स्वर की षष्ठ बिन्दु में अकार के पञ्चम बिन्दु का समावेश मानने में तथा अकार से संयुक्त होने पर इकार के अधमात्रारूप अग की क्षति मानने में फलतः कोई अन्तर नहीं पड़ता है। तीनों ही स्थितियों में इकार स्वर की पूर्वं अधमात्रा शेष रहती है और उत्तर अधमात्रा नष्ट हो जाती है। अतः वह स्वर अपने स्वरूप एक मात्रा से व्युत् होने के कारण स्वर न रहकर अधमात्ररूप व्यञ्जन में परिणत हो जाता है। पर उसी स्थान के व्यञ्जन में उसका परिणाम

हाता है जिस स्थान में उम स्वर का सम्बन्ध था। अर्थात् इकार का तालु-स्थान है। अतः उमकी अर्धमात्रा ना विच्छेद होकर अर्धमात्रा शेष रह जाने पर जब वह व्यजनरूप में परिणत होता है तो तालुस्थानीय यकाररूप व्यजन में ही परिणत होता है अन्य वकारादि व्यजनो में नहीं।

किन्तु उपर्युक्त तीनों प्रकारों में भगवान् पाणिनि को स्वर का सकोच ही अभिप्रेत है। इसीलिये वे 'इग यण सम्प्रसारणम्, इस मूत्र में यकार का इकाररूप में परिणाम होने पर उमकी सप्रसारणमज्ञा बतलाते हैं। क्योंकि प्रसारण सकुचित का ही होता है। यदि दूसरे स्वर के उदर में दूसरे स्वर का अनुप्रवेश उ हे अभीष्ट होता तो वे उस अनुप्रवेश के हटने पर अनुप्रवेश-पिरोधी उद्धरण शब्द का प्रयोग करते। तथा उन्हें अगक्षत अभीष्ट होता तो क्षत की पुनः सम्पत्तिरूप अनुसम्पत्ति पद का वे प्रयोग करते। पर दोनों का ही प्रयोग न कर समचनविरोधी सम्प्रसारण का प्रयोग करने से उन्हें इन तीनों प्रकारों में समचनपक्ष ही अभिप्रेत है। श्रुति ने भी 'सार्वायुपाग्निविद्या में अग्निदेवता (परब्रह्मविद्या) में समञ्चन व प्रसारण का ही प्रतिपादन किया है। अर्थात् यह अग्नि पशु है। जब पशु अगो को सकुचित करता है और उसे पैलाता है, तो उसमें इस क्रिया से सामर्थ्य उत्पन्न होती है। सकोचन व प्रसारण प्राण है। जिस अग में प्राण की स्थिति है, उमी का सकोच व प्रसार होता है। उपर्युक्त रीति से परब्रह्म की तरह शब्दब्रह्म में भी वाक्प्राण के सकोच व प्रसार से ही व्यजन व स्वर की सिद्धि होती है। अर्थात् व्यजनो में प्रसार होने से वे अर्धमात्रा से बढ़कर एक मात्रा में आ जाते हैं, और स्वर बन जाते हैं। जैसे—यकार प्रसारित होकर 'इ' स्वर बन जाता है। इसी प्रकार स्वर सकोचन के द्वारा अर्थात् एक मात्रा से अर्धमात्रा में सकुचित होने पर व्यजन बन जाते हैं। जैसे—दिव्यस्ति, इत्यादि में इकारस्वर सकुचित होकर यकार व्यजन बन जाता है। यह समञ्चन (सकोच) दो स्वरों के सम्परिप्लव्ङ्गरूप सम्बन्ध-विशेष से ही होता है।

१ 'अथात समञ्चनप्रसारणस्यैव । पशुरेव यदाग्निः । यदा च पशुरङ्गानि सचाञ्चति प्र च सारयति । अथ स तैर्वीर्यं करोति । प्राणो च समञ्चनप्रसारणम्' यस्मिन् वा अङ्गे प्राणा भवति तत स चाञ्चति प्र च सारयति" इति । शत० ८।१।१४।

जैसे स्वर वे परे होने पर ङ, ण, न में तत्समान विभागज उपजन (वर्णागम) होता है उमो प्रकार स्वरभक्ति के परे होन पर भी होता है। अग, अहं, इच्योतते, स्त्यागम्, आदि म शकारादि उष्म-वर्णों के उच्चारण में पूव अकार इकार आदि रूप स्वरभक्ति की प्रतीति होनी है। इस स्वरभक्ति के परे होने पर भी ङ, ण न इन नामिबय वर्णों के पश्चात् तत्समान विभागज ङ, ण, न का उपजा होता है। जैसे—'प्राङ् पष्ठ, मुगण्ट् पष्ठ 'सत्स' सञ्छम्भु, इन उदाहरणों में स्वरभक्ति के कारण' पकारादि से पूर्व ङ, ण, न का आगम है। किन्तु वह उपजन (आगम) उन वर्णों में परे पकारादि से पूव विद्यमान अकारादि स्वरभक्ति के कारण है। यहा क्रमज ङ, ण, न, ये विभागज उपजन परवर्ण के अङ्ग है। और परवर्ण पकारादि निरनुनासिक वर्ण हैं, अतः उन उपजनों में से भी नासिक्यतापादक यत्न की निवृत्ति हो जाती है अतः वे ङ, ण, न क्रमज तत्स्थानीय नासिक्यरहित क, ट, त्त म परिवर्तित हो जाते हैं। क्योंकि उन उपजनों के सनिदृष्ट उष्म वर्णों नामिक्यविरोधी गुण से युक्त हैं।

पटत् सुखिन, पट्सन्त, इत्यादि में हकार के वाद होने वाले विभागज उपजन 'ट'केपराङ्ग होने से और उत्तरवर्ती सकार में दन्तस्थानत्व गुण की प्रबलता के कारण वह दन्त्य 'त' में परिवर्तित हो जाता है। स्वर से परे विद्यमान रेफ व हकार से परे जो ह, श, प, स, य, र, ल, व, से भिन्न वर्ण हैं उन पर पूवस्वर का क्रमण होता भी है और नहीं भी होता, अतः वहाँ क्रमज, विभागज व्यजन विकल्प से उत्पन्न होता है। जैसे-तक्क, स्वग्ग, गज्जं, ब्रह्म, नह्यस्ति आदि में। किन्तु जहाँ रेफ व हकार से परे उष्म या अतस्थ व्यजन होते हैं वहाँ क्रमज या विभागज व्यजन उत्पन्न नहीं होता। जैसे—स्वग्गम् आदि उदाहरणों में।

छकारभिन्न सोष्म स्पशवर्णों में पराङ्गता प्रबल होती है, अतः वहा पूर्व स्वर का क्रमण नहीं होता और वहाँ तत्समान विभागज व्यजन उत्पन्न नहीं होता। जैसे—मस, मघा, शठ, वध, सभा आदि उदाहरणों में। किन्तु छकार वर्ण में पराङ्गता का स्पर्श होने पर स्वभावतः उस में पूव स्वर का भी क्रमण होता है अतः क्रमज चकार उत्पन्न होता है और वह उष्मवर्ण छकार से युक्त होता है। जैसे—स्वच्छाया, शिवच्छाया, चेच्छिद्यते आदि में। किन्तु पद के अन्त में दोष स्वर हो और उममें परे छकार व्यजन हो तो वहाँ पदान्त यति के

द्वारा पूर्व स्वर तथा छकार का विच्छेद हो जाने में पूर्व स्वर का क्रमण छकार में नहीं भी होता और वदाचित् होना भा हं अत वहाँ क्रमज चकार वर्ण को उत्पत्ति विकल्प में होती है। जैसे-माच्छाया, ना छाया में, माच्छिदत्, आच्छादयति इत्यादि में पदान यति में विच्छेद हो जाने पर भी जो क्रमज चकार व्यजन दृष्टिगोचर होता है उसका कारण यहाँ एवपदत्व की विवक्षा ही है। अत पदान यति में विच्छेद नहीं होता है और पूर्वस्वर के क्रमण में क्रमज चकार व्यजन उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि यह वर्णोपजन (वर्णागम) का वैचित्र्य दो व्यजनों की मन्धि होने पर व्यजनों की गुणप्रकृति पर निर्भर है तथापि यह वर्णगुणप्रकृत्यनुकूल उच्चारण करने वाले सम्प्रदायविशेष में ही बनता है। आच्छादयति इत्यादि में दीर्घ स्वर से परे छकार से पूर्व चकार का उपजन साम्प्रदायिक उच्चारण की प्रकृति-विशेष के कारण ही है। यह क्रमज उपजन विवक्षा के अधीन होता है, ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) नहीं। क्योंकि पूर्वस्वर का क्रमण उच्चारणविशेष के अधीन होने में साम्प्रदायिक है। अर्थात् वह उच्चारयिता सम्प्रदायविशेष पर आश्रित है। इसलिए दीर्घ स्वर से परे द्वित्व नहीं होता, ऐसा आचार्य उपवर्ण मानते हैं। इन्द्र, राष्ट्रम्, इत्यादि में दो से अधिक व्यजनों के योग में द्वित्व नहीं होता ऐसा शाकटायन मानते हैं। वही भी द्वित्व नहीं होता, ऐसा शाकल्य मानते हैं। उपर्युक्त उपजन (वर्णागम) सम्प्रदायविशेषाधीन होते हुए भी वर्णप्रकृति की अपेक्षा में होते हैं। इसीलिए इनका यहाँ कथन किया गया है।

कृच्छ वर्णागम वर्णप्रकृति से निरपेक्ष होते हैं और केवल भाषा-व्यवहारी की प्रकृति की अपेक्षा में ही होते हैं। जैसे—'विश्ववाट्, मुड्, धुक्' इत्यादि में हकार में पूर्व ट् व ग् का आगम। गर्भ, उद्ग्राभ, निग्राभ, सजभार आदि में हकार से पूर्व व् का आगम होता है और ह के योग से व् सोष्म बनकर भ हो जाता है। स्वरं, स्वरि, सुखार्त् प्राणम्, प्राच्छति आदि में क्रमज ईर, ईरिन्, ऋत, ऋण, ऋच्छति से पूर्व अकार का आगम होता है।

२ वर्णलोप

लोप (वर्णलोप) - उपधातक बल के कारण वही वर्णों का लोप हो जाता है। जैसे—'प्रयुगम्' इस शब्द में उच्चारण के दोष में 'य्' वर्ण का लोप हो जाता

१ विश्ववाट् मुड् घुगित्वादी हकारान् प्राग् उपागमः ।

गर्भ उद्ग्राभनिग्राभी सजभारैति वागमः ॥

मे काम आने वाला बल आरम्भक कहलाता है। वह (१) स्वरोपधायक (२) अङ्गोपधायक (३) स्पर्शोपधायक (४) स्थानोपधायक तथा (५) नादोपधायक भेद से पाँच प्रकार का है। स्वरोपधायक बल के कारण एक ही अकार अ-अ, अ इस प्रकार से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से तीन प्रकार का बन जाता है। अङ्गोपधायक बल के कारण अकारादि एक्-एक् अकार में अ आ आ ३ इस प्रकार से ह्रस्व दीर्घ व प्लुत भेद बन जाते हैं। उच्चारणगत ह्रस्वदीर्घादि भेद अकारादि अक्षरों में ही है, ककारादि व्यंजनो में नहीं, क्योंकि व्यंजनों का उच्चारण अकारादि स्वरों के अधीन है अतः वे स्वर के अंग हैं, स्वनन्त नहीं। और व्यंजन-सहित स्वर एक ही अक्षर कहलाता है भिन्न नहीं। स्पर्शोपधायक बल के भेद से अ, इ, उ, ए, ओ, क, ख, ग, घ, ङ इत्यादि वर्णधारार्यें बनती हैं। जैसे— 'अ' अस्पृष्ट है। 'इ' ईपस्पृष्ट है। 'अ' दुस्पृष्ट है। 'ग' मृदुस्पृष्ट है। 'क' तीव्रस्पृष्ट है। 'ह' अर्द्धस्पृष्ट है। अतः ये सब भेद स्पर्शोपधायक बल के भेद से होते हैं। स्थानोपधायक बल के भेद से एक ही वर्णोपादानभूत वायु अ, इ, उ, ए, ओ, इन वर्णधारार्यों का स्वरूप धारण कर लेती है। 'अ' कण्ठ्य है। 'इ' तालव्य है। 'ऊ' मूषण्य है। 'ल' दन्त्य है। तथा 'उ' ओष्ठ्य है। नादोपधायक बल के भेद से उपाशुवाक्स्व मध्यमा वाक् बँधरी वाक् में परिणत हो जाती है।

७ विशेषक बल का पञ्चविध्य

उपयुक्त पाचो बलों में विनियुक्त बल विशेषक कहलाता है। वह भी (१) उपजनक (२) उपघातक (३) विशेषक (४) विशेषाधायक (५) निरोधक भेद से पाँच प्रकार का है। प्रयत्नोपजनक बल से वर्णनिगम होता है। प्रयत्नोपघातक बल से वर्णलोप होता है। प्रयत्नविशेषक बल से वर्ण-विषय होता है। विशेषाधायक बल से वर्णदिश होता है। इन चारों बलों के निरोधक बल से प्रगृह्यता आती है। विकार के प्रतिबन्ध से स्वरूप में स्थितिरूप प्रकृतिभाव ही प्रगृह्यता है। इस प्रकार आरम्भक बल में विशेषक बल के तारतम्य के कारण दूसरे वर्ण के विच्छेद से सहित या रहित बलवान् व्यंजन के गुणों से बाधित निबल व्यंजन के गुण हट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। और उन निवृत्त गुणों का स्थान आक्रामक बलवान् व्यंजन के गुण ले लेते हैं। इसलिए ये पाँच प्रकार के उपयुक्त वर्णनिगमादि अनेक सधिफल उत्पन्न होते हैं। जसा कि कहा गया है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययस्तद्व्योपस्तदादेश इमे विकारा ।
स्थिति ५ प्रकृत्येति च पञ्च सन्वे फनानि वर्णद्वयमनिकर्षे ॥

१ वर्णागम

मयोग-विभाग तथा शब्द ने शब्द की उत्पत्ति भगवान् कणाद ने बतलाई है। स्वर के उत्तर (गद) नासिकयभिन्न, पद के अन्त में बतमान स्पर्श वर्ण श्रवमान में तथा व्यजन में पूर्वं अपदान्त स्पर्श वर्ण पूर्व स्वर में आक्रान्त होते हैं। वहाँ जलवान् सयोग से उत्पन्न वर्ण के समान प्रतिध्वनिस्प एक विभागज वर्ण और उत्पन्न होता है वह क्रमज नामक उपजन (आगम) है। उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छिन्न होकर उच्चारण का कारण पूर्वस्वर से निग्रहण ही क्रमण है। अर्थात् उस विभागज वर्ण का यति द्वारा विच्छेद होने पर ही वह पूर्व स्वर से निगृहीत होकर उच्चारित होता है। क्योंकि बिना स्वर के व्यजन का उच्चारण मभव नहीं। जैसे—'रामात् त्' इस उदाहरण में आकार के उत्तर अन्यवहित तकार वर्ण की उत्पत्ति स्थान और प्रयत्न के मयोग में होती है, किन्तु वेग के माय स्थान और प्रयत्न का विभाग होते समय भी सयोगज वर्ण के समान ही उसकी प्रतिध्वनि के सहण एक तकार वर्ण की और उत्पत्ति होती है, वही वर्ण स्थान और प्रयत्न के विभाग से उत्पन्न होने के कारण विभागज वर्ण है। परन्तु उसके उच्चारण में भी मर्यागज वर्ण के समान पूर्व स्वर ही कारण है। यही स्थिति वत्स, आत्मा, सत्यम्, शकृ, आतनन्मि, मज्जमा, इन उदाहरणों में है। इतना भेद श्रवण है कि 'रामात्' श्रवमान में विद्यमान पदांत स्पर्श का उदाहरण है और 'वत्स' आदि व्यजन में पूर्व विद्यमान अपदान्त स्पर्श के उदाहरण हैं। यह वर्ण पराङ्ग होता है।

हकार व्यजन के परे होने पर यह क्रमज विभागज वर्ण मोष्मवर्ण बन जाता है क्योंकि यह वर्ण पराङ्ग होता है और ऐसे स्थलों में पर-व्यजन उष्म हकार होता है अतः उसके मन्वन्ध से यह विभागज वर्ण भी मोष्म हो जाता है। जैसे—'वाग् हस्ती' इस उदाहरण में गकार के समान जिस नवीन विभागज वर्ण की उत्पत्ति होती है, वह पराङ्ग है। अतः उसका हकार में योग होने के कारण 'ग्' 'घ्' बन जाता है और 'वाग् हस्ती' 'वाग्घस्ती' में परिवर्तित हो जाता है।

ह्रस्व स्वर में परे विद्यमान ड, ण, न में भी स्वर परे होने पर विभागज ड, ण, न वर्णों की उत्पत्ति होती है। वे भी पराङ्ग होते हैं। प्रत्यङ्गात्मा, मुगण्णीश, मन्च्युत इसके उदाहरण हैं।

सन्निकर्ष के भेद से सन्धिर्विषय

वर्णों के सन्निकर्षभेद से सन्धि के दो भेद हो जाते हैं। सन्निकर्ष के दो भेद सक्रान्ति तथा सहिता हैं। पूर्वोक्त विभूति, सश्नेप एव सपरिप्वङ्गरूप वर्णों के तीनों योग ही व्याकरणमिदधात में सन्धिशब्द से व्यवहृत होते हैं। इनमें वर्णान्तर के विच्छेद में युक्त विभूतियोग ही सक्रान्ति-सम्बन्ध कहलाता है। तथा शेष सश्नेप, च सपरिप्वङ्गयोग सहिता कहलाते हैं। जैसा कि फ्रात्यायन ने प्रातिघारय में कहा है—‘वर्णानामेकप्राणयोग सहिता’। अर्थात् वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध ही सहिता है। वह एक प्राण, स्वर का क्रान्तिमण्डल (ध्यात्मिण्डल) अनुष्टुप् छन्द है। ‘प्राणा वै देवा वयोनाघा-सृष्ट्वांसि वै देवा वयोनाघा’ इस शतपथश्रुति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि प्राणविशेष जब अवच्छेदक बनता है तब छन्द कहलाता है। वर्णों का एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या वर्णान्तर के विच्छेद में भी बन जाता है। जैसे—‘स्थ्यर्कृद्’ इन उदाहरण में आदि मस्, त र् य् का अन्त में र् ट् क् का अकार-रूप एक प्राण (स्वर) से सम्बन्ध है। क्योंकि उन मव में एक अकार स्वर का ही सम्बन्ध है किन्तु उसे सहिता नहीं कह सकते क्योंकि उनका एक प्राण से सम्बन्ध वर्णान्तर के व्यवधान या विच्छेद से युक्त है वर्णान्तर के विच्छेद से रहित नहीं। इसी वर्णान्तर-विच्छेद-सहित एक-प्राणसम्बन्ध का निराकरण करने के लिए पाणिनि ने सहिता की परिभाषा में ‘पर सन्निकर्ष सहिता’ सूत्र में ‘सन्निकर्ष’ में पर-विशेषण का प्रयोग किया है। यहाँ पर-शब्द का अर्थ वर्णान्तर-विच्छेद-राहित्य है।

परसन्निकर्ष की धारणा करते हुए किसी ने जो यह कहा है कि ‘एक वर्ण के बाद दूसरे वर्णों का उच्चारण करने में जो स्वभावतः अर्धमात्रा का काल लगता है उतने व्यवधान से भिन्न व्यवधान का न होना पर-सन्निकर्ष है, यह उचित नहीं है क्योंकि दो पदों का योग होने पर सुञ्चत्वा’ इत्यादि में अवग्रहादि-स्थल में एक पद के बाद दूसरे पद के उच्चारण में अर्धमात्राकाल के व्यवधान की प्रतीति होने पर भी दो वर्णों का सम्बन्ध होने पर दोनों वर्णों के बीच अर्धमात्रा से भी अल्पकालिक अवकाश की ही प्रतीति होती है अर्धमात्राकाल की नहीं। दो वर्णों के बीच का वही अर्धमात्रा से भी अल्पकालिक अवकाश सहिता कहलाता है। अर्थात् दो वर्णों में अवयवजनित विच्छेद का अभाव

सहिता है। अन्यवण में व्यवहिन दो वर्णों का मन्विकर्षं मन्वान्ति कहलाता है। इस प्रकार मन्वान्ति तथा महिताभेद से सन्धि दो प्रकार की होती है।

५ आश्रयभेद से सन्धिद्वैविध्य

आश्रयभेद में भी सन्धि के दो भेद हैं। वे दो भेद स्वरसन्धि व व्यजनसन्धि हैं। स्वरसन्धि महिता (वर्णान्तर के व्यवधान में रहित दो वर्णों के मन्विकर्षं) में ही होती है, वर्णान्तरव्यवधान वाले सक्रान्तिरूप मन्विकर्षं में नहीं। एक स्वर की व्याप्ति नवविन्द्रात्मक प्रदेश में मानी जाती है। एक विन्दु 'व्यजन' अर्थात् अर्धमात्रा का प्रतीक है। उस नवविन्द्रात्मक प्रदेश में पञ्चम व षष्ठविन्दुरूप एकमात्रात्मक प्रदेश स्वर का स्वरूप है। पञ्चम-विन्दुरूप अर्धमात्रा स्वर का पूर्वाद्धं तथा षष्ठ विन्दुरूप अर्धमात्रा स्वर का उत्तराद्धं कहलाता है। दोनों से स्वर का रूप निष्पन्न होता है। वहाँ दो स्वरों की सहिता होने पर पूर्व स्वर की षष्ठ विन्दु अर्थात् उत्तराद्धं, परस्वर की पञ्चम विन्दु अर्थात् पूर्वाद्धं बन जाता है। जिसका दिग्दर्शन 'दिव्यस्ति' इस उदाहरण में पूर्व ही किया जा चुका है। यहाँ इकार-स्वर की षष्ठ विन्दु अर्थात् इकार का उत्तराद्धं उत्तर स्वर अकार की पञ्चम विन्दु अर्थात् पूर्वाद्धं बन गया है और अपने उत्तराद्धं में वह इकार च्युत हो गया है। इसी से अर्धमात्रारूप शेष रहकर वह स्वरसम्पत्ति से विहीन हो जाता है और तत्स्थानीय यकार में परिवर्तित हो जाता है। यह स्वरसन्धि है।

अथ अक्षर से निगृहीत व्यजन का दूसरे अक्षर से निगृहीत होना व्यजनसन्धि है। जैसे—'तत् + आगमन' में दूसरा तकार सन्धि से पूर्व पूर्वतकारोत्तरवर्ती अकार स्वर से गृहीत है किन्तु जश्त्वरूप व्यजनसन्धि के बाद तत्स्थानीय 'द' 'आगमनम्' पद के आदि स्वर आकार से गृहीत हो जाता है। उच्चारण से इसको स्पष्ट जाना जा सकता है। यही व्यजनसन्धि है।

६ बलभेद से सन्धिद्वैविध्य

बलभेद में भी सन्धि दो प्रकार की है। स्वरसन्धि तथा व्यजनसन्धि के द्वारा वण के गुणों का अतिरेक होता है। अन्यरूप से विद्यमान का अन्यरूप हो जाना अतिरेक कहलाता है। वर्णों के उपादानकारण वायु में वर्णों के स्वरूप तथा विशेष के उत्पत्त्यनुकूल बल को वर्णगुण कहते हैं। बल आरम्भक तथा विशेषक भेद से दो प्रकार का है। वर्णस्वरूप की उत्पत्ति

है और 'प्रउगम्' ऐसा उच्चारण किया जाता है। 'उद् स्निग्' म उच्चारण-दोष से उद् के द् का लोप हो जाता है और उ से परे दत्य म को मूर्धन्य प होकर उसके प्रभाव से दन्त्य 'न' मूर्धन्य 'ण' म परिणत हो जाना है और उप्पिणक् ऐसा उच्चारण किया जाता है। उद् उपमगपूर्वक म्या तथा स्नम्भु धातु म प्रयत्न के उपघात से म का लोप हो जाता है। जैसे—उत्यानम् व उत्तम्भनम् म। अरसान म सयोग के अन्तिम वण का प्रयत्नोपघात से लोप हो जाता है। इसी प्रकार अथ शब्द म थकार के उत्तरवर्ती अकार का म्यानविषय होकर वह पद के आदि में आ जाता है और दोनों के योग में आ वन जाता है। पश्चात् अन्त में स्वर के न रहने से त् + ह्, इन सयुक्त व्यंजनो में सयोग के अन्तिम व्यंजन 'ह्' का लोप हो जाता है और आत् वन जाता है। जैसा कि 'आद्रात्री वामस्तनृते सिमस्मै' में है। यह आत् जब स्वनत्र निपात होता है तब इसके म्यान म इसके पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग हो सकता है। जैसे—'आद्रात्री' म आत् के स्थान म अथ शब्द का प्रयोग। किन्तु जब यह 'आत्' पञ्चमी विभक्ति के निपातरूप से विवक्षित होता है तब इसके स्थान म पर्यायवाची अथ शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। जैसे - देवात् के स्थान में 'देवअथ' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता। जब यह आत् 'स्म' निपात में सयुक्त होता है तब सर्वनाम यत्, तत् आदि शब्दों के अन्तिम तकार का प्रयत्नकलेश के कारण लोप हो जाता है। जैसे—यस्मात्, आदि में। व्यंजन से परे वर्तमान नासिक्य अ न स्थ व्यंजनो का नासिक्य अन्त स्थ व्यंजन परे होने पर लोप हो जाता है।

व्यंजन से परे विद्यमान नासिक्य वर्णों का नासिक्य वर्ण परे होने पर जो लोप होता है, वह जिस नासिक्य वर्ण का लोप होता है, वह तत्सजातीय नासिक्य वर्ण के परे होने पर हो होता है, भिन्न नासिक्य वर्ण परे होने पर नहीं। इस लिए 'तम्नाम्' इस उदाहरण में 'न्' से परे 'म्' का लोप नहीं होता है, क्योंकि उससे परे जो नासिक्य वर्ण है, वह 'म्' न होकर तद् विजातीय 'न्' है।

'शय्या' इत्यादि म प्राकृतिक दो यकार-वर्णों में एक यकार का क्रमज अथत् विभागज तृतीय यकार के परे होने पर लोप हो जाता है। अर अत्ततो गत्वा दो यकार ही शेष रह जाते हैं—एक प्राकृतिक और एक क्रमज। अदितेरपत्यम् आदित्य, म एक यकार का क्रमज (विभागज) यकार परे होने पर लोप हो जाता है।

आदित्यदेवताक स्थालीपाक आदित्य षब्द मे दो यकार है । एक मूल आदित्यशब्द का तथा दूसरा ण्य प्रत्यय का । इन दोनों का ही क्रमज तृतीय यकार परे होने पर लोप हो जाता है ।

व्यजन से परे वतमान नामिक्य अन्त स्थ वर्णों मे भिन्न व्यजनो का मवर्ण व्यजन परे होने पर लोप हो जाता है । जैसे—मरत, प्रत्तम्, श्रवत्तम्, इत्यादि मे दो तकारो म मे एक तकार का ऋमज तकार परे होणे पर लोप हो रहा है । व्यजन से परे वतमान नासिक्य तथा अन्त स्थ वर्णों से भिन्न व्यजनो का सवर्ण व्यञ्जन परे होने पर जो लोप होता है, वहा जिम व्यञ्जन का लोप होता है, वही व्यञ्जन परे हो, यह नियम नही । अन्त 'शिण्डि' व पिण्डि, म ङकार परे होने पर भी ङकार का लोप हो जाता है । ग्रन्थु शब्द म ग्रन्ध् धातु से 'तु' प्रत्यय करने पर तकार का लोप हो जाता है ।

इ या ए अथवा उ या ओ के परे होने पर ऋमज यकार व वकार की अभिव्यक्ति नही होती । जैसे—नरयीश्वर नर ईश्वर, यो-यायीश्वर, यो-या ईश्वर, भोयेक, भो एक, हरयेक, हर एक, द्योतास, तोतास उदाहरणो मे यकार व वकार की अभिव्यक्ति न होने से यकार-वकार-सहित तथा यकार-वकाररहित ण-दो का समान ही उच्चारण होता है । यकार व वकार की अभिव्यक्तिस्थान म तीन भिन्नभिन्न सम्प्रदाय है । इनमे शाकटायन भोयेको हरयेक मे यकार का स्वरधर्मरूप से श्रवण मानते है । शाकत्य भो एक, हर एक, इम प्रकार से दोनो जगह यकार का श्रवण नही मानते । गार्ग्य 'भो एक' म यकार का लोप (अश्रवण) तथा 'हरयेक' म लघुप्रयत्नतर यकार का श्रवण मानते है । ऋच शब्द मे लोच म 'र' तथा 'य' की अनभिव्यक्ति है और छ-द म उनका लोप हो जाता है । जैसे—तृचम् म । 'अपि' म र और य की अनभिव्यक्ति है ।

३ वर्णविपर्यय

विपर्यय (वर्णविपर्यय) वर्णों का स्थान परिवर्तन है । अक्षवाहिनी प्रवाह प्रवाह तथा प्रवाहि शब्दों म अक्षरा के विशकलन मे सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन होकर सवि होने पर अक्षौहिणी, प्रौह, प्रौड, प्रौडि प्रयोग बन जाते है । अर्थात् प्राहिणी आदि शब्दो म वा शब्द के विशकलन मे सिद्ध उ अ अ इन वर्णों का स्थानपरिवर्तन हो जाणे पर अ अ स्वर उ मे पूर्व स्थान म प्रा

जाते हैं तथा इनकी गुणसन्धि होकर ओ बन जाता है। ओ का अक्ष के साथ तथा प्र के अ के साथ सन्धि होने पर अक्षीहिणी प्रौढ आदि शब्द बन जाते हैं।

स्थिर शब्द में सकार से पूर्व स्वरभक्ति अकार स्थानविपर्यय के द्वारा सकार के बाद आ जाती है तथा सथिर शब्द बन जाता है। पश्चात् आदि के सकार तथा तत्पश्चाद्वर्ती स्वरभक्ति अकार, दोनों के तालव्य हो जाने में शिथिर शब्द बन जाता है। अथवा अथ व उलय शब्दों में र और थ तथा ल और थ का स्थानविपर्यय हो जाने से श्यर व श्यल शब्द बन जाते हैं। पश्चात् प्रयत्नदोष से 'श' 'व' 'थ' में दो इकार और आ जाते हैं। इस प्रकार शिथिर व शिथिल शब्द बन जाते हैं। 'पश्यक' शब्द में प और क का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से कश्यप बन जाता है। तथा श और य का स्थानविपर्यय हो जाने पर यकार में प्रयत्न के प्रतिबाध से स्पर्श का उत्कृष्ट होकर ऋमश वह ञ और च में परिवर्तित हो जाता है। और इसी प्रकार प्रयत्न प्रतिबाध से स्पर्श का उत्कर्ष होकर 'श' 'छ' में परिवर्तित हो जाता है। कच्छप शब्द भी ऐसे ही बनता है। इसी प्रकार पश्य से कच्छ बन जाता है। इसी रीति से एव पद में पद के आदि में 'ए' का पदान्तविपर्यय हो जाने से 'वै' शब्द बन जाता है। 'अनश्व' में अन् शब्द भी न के विपर्यय से बनता है। अर्थात् न=न्+अ में न जो आदि में था, अन्त में आ जाता है और इस प्रकार न का अन् बन जाता है। इसी प्रकार तु का स्थानविपर्यय से 'उत्' बन जाता है। 'कृती छेदने' से उ प्रत्यय द्वारा कतु शब्द ही स्थानविपर्यय से तकु बन जाता है।

'ओम्' में अ उ का परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने में ओम का 'वम्' बन जाता है। भम शब्द म ह और र का स्थानविपर्यय हो जाने पर ब्रह्म बन जाता है। जैसे- भर्म = 'व ह , अ, र् म् अ' म र के स्थान में र और र के स्थान में ह के आ जाने से व र् ह अ म् अ = ब्रह्म बन जाता है। बहु शब्द म अ का स्थानविपर्यय हो कर ह् के बाद आ जाने से तथा अ की उ हो जाने से भू बन जाता है। जम-यहु =

- १ ओमोऽकारोकारयोव परस्परविपर्ययात् ।
 नम्मणी हरयोऽह्य परस्परविपर्ययात् ॥
 बहोर उत्त्यमन्त् सोऽनुदात्तपरो नूरभूदयम् ।
 घातुस्ततोऽभूद् भूर्भूमिर्भूमा भूयान बहु ब्रुवन ॥
 निघ पुण्डे र्द्योनिघट्ट स्याद् विपर्ययात् ।
 विलोपात् हरयोरेकवि तुल्ये स्पर्शान्नुते ॥

व् अ ह् उ मे अ के ह् के पश्चात् आने मे व् ह=भ बन जाता है और अ को उ हो जाने से मन्धि होकर दीघ ऊ हो जाता है और भू बन जाता है। भूमि, भूमा, भूयान् आदि मे यही स्थिति है। निर्ग्रन्थु शब्द भी र तथा ह के विपर्यास मे निघण्टु बन जाता है। जैसे-निर्ग्रन्थु=नि र् ग् र अ च् त् ह् उ मे 'ह' और 'र' वा परस्पर स्थानविपर्यय हो जाने से निर्घ-तु बन जाता है। पश्चात् निर् के र् का भी विक्षेप के कारण स्थानविपर्यय हो जाता है और त् के विन्दु पर आ जाता है और स्पर्शनद्रुति से त् ट मे परिवर्तित हो जाता है।

४ धनदिश

आरम्भक बल मे जहाँ विशेषक बल के उदय से लोप, आगम तथा विपर्यास एक साथ होते हैं अर्थात् किसी वर्ण के गुण का नाश, किसी का आगम, किसी का विपर्यास (स्थानपरिवर्तन) होता है, उसे आदेश कहते हैं।

विशेषक बल नाना प्रकार का हो जाता है। प्रत्येक विशेषक-बल तारतम्य के कारण पुन नाना प्रकार का हो जाता है। जैसे-गति एक विशेषक बल है। उरस्, कण्ठ व शिरस् ये तीन सवनस्थान हैं। इन स्थानो मे वायु को पहुँचाने वाला बल स्वरोपधायकमज्ञक है। इसमे विशेषक बल के तारतम्य से और भेद हो जाते हैं। जैसे- उदात्त और स्वरित द्रुत गति के कारण अनुदात्त हो जाते हैं। अनुदात्त व उदात्त ममगति के कारण स्वरित बन जाते हैं। इसी प्रकार अनुदात्त और स्वरित प्लुतगति के कारण उदात्त हो जाते हैं।

इसी तरह सधारण एक दूसरा बल है। उसके कारण प्रतिसवन अर्थात् उर, कण्ठ व शिरस् इन तीनों सवन स्थानो मे स्वरोपधायक बल मे दो भेद हो जाते हैं। वे भेद निगृहीत तथा उद्गृहीत हैं। प्रत्येक सवनस्थान मे निम्न भाग मे गृहीत वायु निगृहीत तथा ऊर्ध्वभाग मे गृहीत उद्गृहीत कहलाता है। इसके कारण सत्रतर, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित, उदात्त तथा उदात्ततर ये ६ भेद स्वर के हो जाते हैं। उरस् स्थान मे निम्न भाग मे निष्पन्न स्वर सत्रतर (निघात)

१ आरम्भके बले अथ विशेषकबलौदयात् ।
लोपागमविपर्यासा बलाना स्यु समुच्चयात् ॥
गुणाना कस्यचि नाश कस्यचिच्चागम सत् ।
कस्यचिद्धा विपर्यासरतमादेश प्रचक्षते ॥

तथा ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न स्वर अनुदात्त कहलाता है। कण्ठस्थान मे निम्न भाग मे निष्पन्न स्वर स्वरित तथा ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न प्रवृत्त कहलाना है। गिर-स्थान मे निम्नभाग मे निष्पन्न स्वर उदात्त तथा ऊर्ध्व भाग मे निष्पन्न उदात्तर कहलाता है। उपर्युक्त तारतम्यविशेष की अपेक्षा न करने पर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ये तीन ही स्वर होते हैं। इसीलिए कहा है—“उच्चादुच्चतर नास्ति नीचान्नीचतर तथा ।”

इसी प्रकार अङ्गोपधायक बल मे अभिव्याप्ति नामक विशेषक बल होता है उस विशेषक बल मे अवच्छेदतारतम्य या मात्रा नामक अन्य बल रहता है। इसके कारण अक्षर मे ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत ये विशेषताये हो जाती हैं। एक-मात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ तथा त्रिमात्रिक प्लुत कहलाता है। यह एक छन्द है। स्वरमात्र को अथवा एक या दो या तीन या चार या पाँच या छ या सात व्यंजनों से अवच्छिन्न स्वर को अक्षर कहते हैं। यह दूसरा छन्द है।

स्पर्शोपधायक बल मे विवृत,^१ मन्द,^२ दुर्योग,^३ द्विस्थानिक,^४ मृदु,^५ तीव्र^६ अधमम^७ ये सात विशेष हैं। समसाम्मुख्य रूप से अवस्थित स्थानो व करणो के मध्य मे अवगुण्ठित वर्णों के उपादानकारण प्राणवायु मे स्थानो व करणो के स्पर्श का प्रतिबन्ध या अभाव विवृत कहलाता है ॥१॥

स्थानो व करणो मे प्राणवायु का स्पर्श न होने पर भी स्पर्शो-मुख-प्रयत्नता मन्द कहलाता है ॥२॥ अत्यल्पमात्रा मे स्थान व करण मे प्राणवायु का स्पर्श दुर्योग कहलाता है। वह करणविषमता के कारण स्पर्शास्पर्शी है ॥३॥ मुख-स्थान मे स्पृष्ट प्राणवायु का उपरि विद्यमान नासानाडी से स्पर्श द्विस्थानिक कहलाता है ॥४॥ मृदुस्पर्श से ग, ज, ड, द, ब, वर्ण उच्चरित होते हैं ॥५॥ तीव्रस्पर्श से क, च, ट, त, प वर्ण उत्पन्न होते हैं ॥६॥ उष्ण वर्णों के स्वरभक्ति सहित होने से अशत वे विवृत रहते हैं और अशत उनमे स्पर्श होता है। इस प्रकार इन विशेषक बलों के सम्बन्ध से स्पर्श मे तारतम्य होने से वर्णोत्तर का आदेश हो जाता है। जैसे—इ, उ, ऋ, ए ये नामो स्वर हैं। इन विवृत प्रयत्न वासे स्वरों के स्थान मे असवर्ण स्वर होने पर क्रमशः य, र, ल, व, ये ईपत्स्पृष्ट अन्त स्थ वर्ण हो जाते हैं। जैसे—दिव्यस्ति, मन्वस्ति, पित्रागम, लाकृति ।

स्थानोपधायक बल मे द्रुति, मम, प्लुति ये विशेषतः बल होते है। द्रुति-गति के कारण प्रथम स्थान मे स्थानोपधायक बल का पात होता है। ममगति के कारण तालु, मूर्धा, व दन्त इन मध्यमस्थानो मे तथा प्लुतगति के कारण श्रोष्ठरूप उत्तम (अन्तिम) स्थान मे स्थानोपधायक बल का पात होता है। मध्यम स्थान मे भी ममद्रुति से तालुस्थान मे, मम माम्य से मूर्धा मे तथा समप्लुति से दन्तस्थान मे स्थानोपधायक बल का अवपात होता है। द्रुति के कारण 'त' को 'क' हो जाता है। जैसे—'शुक्' मे। प्लुति के कारण 'त' को 'व' हो जाता है। जैसे—'पक्व' मे। सममाम्य के कारण 'त' को 'ट' हो जाता है। जैसे—'कृष्ट' मे। एकस्थानिक 'त' को द्विस्थानिकत्व बल के कारण 'न' हो जाता है। जैसे—'वृष्ण', हीन आदि मे। प्लुति तथा द्विस्थानिकत्व के कारण 'त' को 'भ' हो जाता है। जैसे—'क्षाम' मे। कहीं पर स्थानबल तथा स्पर्शबल दोनो की विशेषताओ के आधान से सिद्धि होती है। जैसे—सकार और रेफ को अघोष वर्ण परे होने पर तथा अवसान मे विसर्ग हो जाता है। जैसे—'उच्चै', 'पुन पुन' मे।

अकार से परे विद्यमान 'स' 'ह' बनकर उभार मे परिणत हो जाता है, यदि उससे परे अकार या अघोषवर्ण हो। जैसे—'द्वोऽस्मिन्, देवो गत' आदि मे। आकार से परे सकार को हकार होकर निवृत्ति हो जाती है यदि उससे परे स्वर वर्ण या घोष हो। जैसे—'वाला आयाति, वाला गता' आदि मे। डकारादि स्वरो से परे स को रेफ हो जाता है यदि उसमे परे कोई स्वर या घोष वर्ण हो। जैसे—हरिरय, हरिगंत, भानुरय, भानुगंत, उन्नैरय, गीर्वाणत आदि मे। स्वर वर्णों से परे रेफ और सकार को अघोष वर्ण परे होने पर उम अघोष वर्ण के स्थानवाला उष्म वर्ण हो जाता है। जैसे—दिवप्पकरोति, हरिश्चिनोति, भानुष्टीकते, शनैस्त वते, उच्चैःपठति आदि में। इस प्रकार के आदेशविकारो मे वर्णगुण लुप्त हो जाते है, या उनका विषय हो जाता है।

५ प्रकृतिभाव

जिसका स्वरूप ही प्रदर्शित करना अभीष्ट है वह प्रकृष्टतया गृहीत होने से प्रगृह्य कहलाता है। वहाँ विकार के कारण के होने पर भी प्रगृहीत होने से उम स्वर की स्वरूप मे प्रत्युत्ति नहीं होती अर्थात् उसमे कोई विकार नहीं होता। जस ईकारान्त, ऊकारान्त व एकारान्त द्विवचन, ईपदर्थक व अवधिग्रथं वाले

आकार को छोड़कर शेष स्वर, तथा ओवारात्त निपात प्रगृह्य होते हैं। इनके क्रमशः-ह्री एतौ, विष्णू इमौ, द्रव्ये इमे, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, अहो ईशा उदाहरण हैं। प्रकृतिभाव विवक्षाधीन होता है।

इति श्रीविद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनशर्मप्रणीत पय्यास्वस्तिग्रन्थ मे सन्धिपरिष्कार-
नाथक पञ्चम प्रपाठ की द्वि-दोष्याहया समाप्त ।

